

हड़प्पा सभ्यता व चिकित्सा विज्ञान

अंजू लता श्रीवास्तव*

चिकित्सक, परिचारक, औषधि व रोगी ये चारों मिलकर मिलकर शारीरिक धातुओं की समता के उद्देश्य से जो भी उपाय या कार्य करते हैं उसे चिकित्सा कहते हैं। रोगों से आक्रांत होने पर रोगों से मुक्त होने के लिए जो उपचार किया जाता है, संकीर्ण अर्थ में वह चिकित्सा कहलाता है पर व्यापक अर्थ में वे सभी उपचार चिकित्सा के अंतर्गत आ जाते हैं जिनसे स्वास्थ्य की रक्षा और रोगों का निवारण होता है। चिकित्सा विज्ञान के साक्ष्य प्राचीन काल से ही मिलने लगते हैं। जिनसे मानव का स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता सिद्ध होती है। चिकित्सा विज्ञान का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि रोग आ जाने पर उसकी चिकित्सा करने की अपेक्षा ऐसे उपाय किये जाने चाहिए, जिससे रोग को शरीर में रोग को प्रवेश के अवसर ही प्राप्त न हो।

चिकित्सा हमेशा से ही भारतीय समाज में महत्वपूर्ण रही है। चिकित्सा प्रणाली की प्रारम्भिक झलक हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त अवशेषों से मिलने लगती है हड़प्पा सभ्यता के विषय में जो समस्त अवशेषों के रूप में उपलब्ध है, वह मुख्यतः हड़प्पा, मोहनजोदड़ों नामक दो बड़े शहरों के अवशेषों से मिलती है। हड़प्पा सभ्यता में जन स्वास्थ्य व स्वच्छता के विषय में ज्ञात होता है। किन्तु इसके विषय में अल्प ज्ञान ही प्राप्त होता है। लिखित साक्ष्यों की अल्प उपलब्धता व लिपि के न पढ़े जाने के कारण पुरातात्विक सामग्री के आधार पर ही जन स्वास्थ्य, औषधि व चिकित्सा विज्ञान के बारे में ज्ञात होता है।

मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त हुए उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के अनुसन्धान से यह जानकारी मिलती है कि हड़प्पा सभ्यता में प्रत्येक प्रकार के दैनिक क्रिया कलापों में चिकित्साशास्त्र के सभी सिद्धांतों का विशेष ध्यान रखा जाता था। स्थापत्य कला में भी चिकित्सा विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। व्यवस्थित नगर नियोजन से स्पष्ट है कि वे स्वस्थ जीवन व स्वास्थ्य के प्रति जागरूक थे। स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से हड़प्पा निवासी व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही रूप से सक्रिय थे। मोहनजोदड़ों के अवशेषों में नगर के मध्य में एक सुंदर प्रशस्त, महत्वपूर्ण भवन सार्वजनिक स्नानागार था। हम सम्भावना कर सकते हैं, इसका निर्माण स्वास्थ्य की दृष्टि से किया गया। इसकी लम्बाई 39, चौड़ाई 23 और गहराई 7 फीट है। इस स्नानागार में जाने के लिए उत्तर और दक्षिण की आरे ईंटों की सीड़ियाँ बनी हैं। स्नानागार के फर्श का ढलाव दक्षिण पश्चिम की ओर है। यही कोने पर बनी नाली के द्वारा समय-समय पर कुंड का गन्दा जल निकाल कर उसकी सफाई की जाती थी। नाली का पानी बाहर बनी हुई एक अन्य नाली में गिरता था। स्वास्थ्यविज्ञान के अनुसार जलमिश्रण द्वारा सार्वजनिक स्नान की इतनी उत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण व्यवस्था हमें आज भी अप्राप्य है। सड़कों पर भी सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता था।

* कन्या गुरुकुल परिसर, देहरादून, * गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सड़कें साफ सुथरी और बड़ी थी। कूड़ा, करकट, सड़कों के ऊपर स्थान-स्थान पर रखे मिट्टी के पात्रों या पीपों में जमा कर दिया जाता था और फिर सड़कों के किनारे खुदे हुए गददों में डाल दिया जाता था। नगर में गंदे पानी के निकास के लिए नालियों की व्यवस्था बहुत सुनियोजित थी। सड़कों व नालियों के अवशेष बनावली में भी मिले हैं। प्रायः प्रत्येक सड़क व गली के दोनों ओर पक्की नालियाँ बनी हुई थी जो गारे से जोड़ दी जाती थी। चौड़ी नालियों को ढकने की व्यवस्था का भी पता चलता है क्योंकि कहीं-कहीं पर इसके लिए बड़ी-बड़ी ईंटों या पत्थरों का प्रयोग किया गया है। समय-समय पर इन नालियों की सफाई की व्यवस्था थी। नालियों के किनारे कहीं-कहीं गड्डे बने थे, जिनमें सम्भवतः नालियों से निकला कूड़ा कचरा जमा किया जाता था। इसी प्रकार बड़ी नालियों में बीच-बीच में गड्डे (soak pit) बने हुए थे जिसमें नालियों में बहने वाला कूड़ा जमा हो जाता था और नालियों का प्रवाह बना रहता था। गंदे पानी व मूत्रालय के शोषक कूप बने थे। नगर में स्वास्थ्य एवं स्वच्छता हेतु इस प्रकार व्यवस्था थी। इन तथ्यों से स्पष्ट कि सैन्धव निवासी स्वच्छता एवं स्वास्थ्य के पारस्परिक सम्बन्ध से परिचित थे और स्वास्थ्य विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों के प्रति जागरूक थे।

सार्वजनिक स्वच्छता के प्रति विशेष जागरूकता को देखते हुए स्वाभाविक है कि व्यक्तिगत स्वच्छता का भी पूर्णतः ध्यान रखते थे। जो कि व्यक्ति को स्वस्थ रखने में सहायक थी। विभिन्न पुरास्थलों के उत्खनन से मिले अवशेषों के अवलोकन से यह पता चलता है कि मकान हवादार होते थे, प्रायः एक ही सीध में बनाये जाते थे, उनके मुख्य द्वार गली की ओर होते थे। प्रत्येक निवास में कुआँ बनाया जाता था, जिसके बगल में स्नानागार होता था और उसके निकास के लिए नालियों बनाई जाती थी, जो बाहर सड़क की मुख्य नालियों से सम्बद्ध होती थी।

हड़प्पा सभ्यता एक विकसित नगरीय सभ्यता होने के साथ कृषि आधारित सभ्यता भी थी। संगठित रूप में कृषि के द्वारा हड़प्पा सभ्यता के निवासियों ने निश्चित रूप से औषधीय पेड़-पौधे व वनस्पतियों का उत्पादन किया। वे रबी व खरीफ दोनों फसल की खेती करते थे जैसे कि गेहूँ, जौ, बाजरा, दालें आदि की। निवासी अपने भोजन में दूध मछली, फल आदि का भी प्रयोग करते थे। इसके लिए वे मवेशी भी रखते थे। हड़प्पा सभ्यता में लाजर्वत, पेरोजा, स्फटिक, दुग्ध, पाषण, अफीम, शिलाजित आदि पाए गये हैं जिनका औषधियों में प्रयोग होता था। यहाँ की खुदाई में हिरणों के सींग के भंडार मिले हैं। जो हिरण हिमालय में पाए जाते हैं, अवश्य ही उनकी सींगों का संग्रह औषधीय उपयोग के लिए किया गया होगा। जॉन मार्शल का कहना है इन हिरण की सींगों का उपयोग मुख्यता चर्म, नेत्र व गले में होने वाले रोगों के उपचार के लिए किया जाता होगा। हिरण की सींग का औषधीय प्रयोग हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक हो रहा है।

मोहनजोदड़ो से खुदाई में एक काले रंग का पत्थर मिला है, जिसका आचार्य डॉ. सल्लाउल्ला और डॉ. हमीद ने परीक्षण किया व इसको शिलाजीत पत्थर बताया है। जिसका

औषधियाँ के रूप में प्रयोग का प्रमाण मिला है, यह पर्वतीय प्रदेश से वहाँ आया। यह मूत्र रोग आदि में प्रयुक्त होता था। अजीर्ण, मधुमेह, यकृत, तथा प्लीहा के रोगों के लिए अति उपयोगी है। यह हृदय गति को नियमित करता है। यह उत्तेजक और कफ नाशक है। उत्खनन से प्राप्त शिलाजित से तत्कालीन चिकित्सकों द्वारा उसके प्रयोग किये जाने का पता चलता है। कहीं-कहीं पर समुद्रफैन भी मिला है, यह भी औषधि के रूप में प्रयुक्त होता होगा। हड़प्पा निवासियों को रोगों और चिकित्सा के ज्ञान के साथ-साथ जड़ी बूटियों व वानस्पतिक पौधे, खनिज शंख, सीप आदि का चिकित्सकीय ज्ञान भी था। नीम की पत्तियों का औषधीय उपयोग मुख्यतः वैदिक काल में अधिक दिखाई पड़ता है, परन्तु उसकी जड़े सिन्धु सभ्यता से ही दिखाई पड़ने लगी। चिकित्सा में जादू टोना का भी प्रयोग किया जाता होगा। कुछ पुजारी चिकित्सक जादू, संस्कार, आदि के द्वारा चिकित्सा करते थे, कुछ तबीजों कदाचित इसी ध्येय की पूर्ति के लिए बनाई गई होगी। उत्खनन में अनेक ऐसे ताबीज प्राप्त हुए हैं, जो इसी तरह के अन्धविश्वास की संकेत रहते हैं।

योग का चिकित्सा के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान है। योगाभ्यास द्वारा विभिन्न प्रकार की बीमारियों की रोकथाम आसानी से की जा सकती है तथा वर्तमान में प्रचलित नाना प्रकार की दवाईयों के दुष्परिणाम से बचा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता में योग मुद्रा में प्राप्त प्रतिमाओं से यह स्पष्ट होता है कि वे योग के चिकित्सकीय उपयोग से परिचित रहे होंगे। हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न पुरा स्थलों में उत्खनन से जो पुरावशेष मूर्तियाँ, मुद्रायें, मुद्रा छापे आदि प्राप्त हुए हैं, उनमें अनेक योगिक मुद्राओं जैसे ध्यान मुद्रा, नमस्कार मुद्रा, उत्कूटिकासन मुद्रा, तथा कायोत्सर्गमुद्रा में विभिन्न आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। मोहनजोदड़ों से उपलब्ध एक मुद्रा पर एक पुरुष आकृति चौकी पर योग की उत्कृष्टिकासन-मुद्रा, में बैठी है जिसके चतुर्दिक पशुओं का अंकन है। इसे शिव-पशुपति का पूर्व रूप माना गया है। मोहनजोदड़ों से ही प्राप्त एक अन्य योग की मूर्ति भी उल्लेखनीय है। इसे ध्यान मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। इसमें अध्रानेमिलित नेत्र और नासार्ग-दृष्टि एक योगी होने का परिचय देते हैं। योगाभ्यास द्वारा मन, बुद्धि, चंचलता, को शान्त एवं स्थिर कर देता है। योग सभी प्रकार की वेदना और दुःखों का उन्मूलन करता है।

उत्खनन से कुछ व्याधियाँ का पता भी चलता है, जैसे गठिया, अंग विक्रति, पक्षाघात, मलेरिया, घाव परन्तु उनके उपचार का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त नहीं होता है। कुछ पुरातात्विक साक्ष्य केवल शल्यचिकित्सा को प्रमाणित करते हैं। जो कि थ्रेफिनिंग (प्राचीन शल्यचिकित्सा प्रणाली जिसमें उपकरण की सहायता से सिर में छेद या काट कर चिकित्सा की जाती थी) के द्वारा किये जाते थे।

हड़प्पा सभ्यता में हमें शल्यचिकित्सा का प्रमाण भी प्राप्त होता है। इसका प्रमाण लोथल व कालीबंगन से प्राप्त होता है। लोथल से एक 8-9 वर्ष की अवस्था के बालक का कंकाल प्राप्त हुआ है, जिसके खोपड़ी में एक छेद है जो किसी उपकरण की सहायता से किया गया, लेकिन हड़डी का दूसरा सिरा भरा नहीं है, जिससे ऐसा प्रतीत है कि बालक

शल्यचिकित्सा के पश्चात् अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। कालीबंगन के साक्ष्य में दफन बालक का सिर अधिक बड़ा है जिससे यह प्रतीत होता है कि शायद मस्तिष्क में अत्यधिक द्रव्य होने से सुजन आ गई थी। हड़प्पा सभ्यता से उपलब्ध लिखित साक्ष्यों के ऐतिहासिक उपयोग के अभाव में किसी तथ्य की प्रामाणिकता के लिए हमें पुरातात्विक स्रोतों पर निर्भर होना पड़ता है। चिकित्सा विज्ञान प्राचीन काल से ही मानव की रूचि का विषय रहा है जिसने उसे व्याधि मुक्त करने में सहायता की। उन सभी चिकित्सा प्रणालियों का वर्तमान जीवन में भी प्रयोग किया जा रहा है। स्वच्छता स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आधुनिक ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के नागरिकों की रूचि उस सभ्यता का विकसित नगरीय स्वरूप को और विस्तार देती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुकर्जी, राधाकुमुद सिन्धु सभ्यता, नई दिल्ली— 1990, राजकमल प्रकाशन
2. केनोयेर, जे0एम0 एन्शियन्ट सिटीज आफ इंडस वैली सिविलाइजेशन, 1998, आक्सफोर्ड
3. दीपक कुमार (सपा0) डिजीज एन्ड मेडिसन इन इन्डिया, ए, हिस्टोरिकल ओवरविव, नई दिल्ली, 2001, तुलिका बुक्स पेज नं0, 3
4. शर्मा, आचार्य प्रियवर्त आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, वाराणसी, 1981, चौखम्भा, ओरिएण्टलिया, पृष्ठ सं0— 50
5. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 51
6. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 51
7. कोशाम्बी, डी0 डी0 दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ— एन्शियन्ट, इण्डिया
8. थल्याल, किरण कुमार सिंधु सभ्यता, लखनऊ, 1992, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, पृष्ठ सं0 40—41
9. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 54
10. लुनिया, बी0 एल0 इवोल्यूशन आफ इंडियन कल्चर, आगरा, 1987, एजुकेशनल पब्लिशर्स पृष्ठ सं0 28
11. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 55
12. थल्याल, किरण कुमार सिंधु सभ्यता, लखनऊ, 1992, उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान पृष्ठ सं0—175—177
13. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 84
14. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 85
15. लुनिया, बी0 एल0 इवोल्यूशन आफ इंडियन कल्चर, आगरा, 1987, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पृष्ठ सं0— 29
16. थल्याल, किरण कुमार सिंधु सभ्यता, लखनऊ, 1992, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, पृष्ठ सं0 183—185
17. मुकर्जी, राधाकुमुद सिन्धु सभ्यता, नई दिल्ली, 1990, राजकमल प्रकाशन पृष्ठ सं0— 39
18. थल्याल, किरण कुमार सिन्धु सभ्यता, लखनऊ, 1992, उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, पृष्ठ सं0— 206
19. थल्याल, किरण कुमार सिन्धु सभ्यता, लखनऊ, 1992, उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, पृष्ठ सं0— 152—156
20. ओझा, श्री कृष्ण भारतीय पुरातत्व, जयपुर, रिसर्च पब्लिकशंस पृष्ठ सं0— 95

21. श्रीमद्भगवद्गीता 6, 18–23 मोतीलाल, जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
22. श्रीमद्भगवद्गीता 6, 16–17 मोतीलाल, जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
23. शर्मा, ए० के० द हरप्पा सिमेट्री एट कालीबंगन : ए स्टडी, इन जी० एल० पोस्सल हरप्पन सिविलाइजेशन, पृष्ठ सं० 298
24. कैनेडी, के०ए० आर ट्रामा एंड डिजीज इन द एन्शियन्ट हरप्प्स, इन बी०बी०लाल एंड एस०पी० गुप्ता (सपा), फ्रंटियर्स आफ इंडस सिविलाइजेशन, पृष्ठ सं०–425–36
25. जॉन मार्शल (सपा) 1, 1931 मोहनजोदड़ो एन्ड द इंडस सिविलाइजेशन पृष्ठ सं०– 79–81, 107–08, 184–85
26. राव, एस० आर० ए हरप्पन पोर्ट टाउन, पृष्ठ सं०– 145–146
27. लाल बी०बी०, लाल द अरलिस्ट सिविलाइजेशन इन साऊथ एशिया, दिल्ली 1997, पृष्ठ सं. 218–19

जहाँगीरकालीन लघुचित्रों में दरबारी दृश्यांकन

डॉ. रीतिका गर्ग*

भारतीय संस्कृति सदैव ही विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है, जिसमें कलाओं का भी अपना विशिष्ट स्थान है। भारत ने संसार को बहुत कुछ दिया चाहे, वह धर्म या संस्कृति हो या कला और ज्ञान। प्रत्येक मानवी कार्यक्षेत्र में—युद्ध और शान्ति की प्रत्येक कला में, राजनीति एवं शासन—व्यवस्था में, संगीत तथा साहित्य में, स्थापत्य और प्रतिमा निर्माण में, नृत्य एवं चित्रकला में — हमारी संस्कृति विकसित हुई है और उसने ऐसे आदर्श उपस्थित किये हैं, जिनकी सारा विश्व प्रशंसा करता है; 1) (दिवाकर, श्री रंगनाथ रामचन्द्र, वर्ष 24)। प्राचीन काल से ही भारतीय कला मानव जीवन की अभिव्यक्ति बनी हुई थी। आदि से अन्त तक सारा जीवन कला से ओत-प्रोत था। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत में विभिन्न युगों में ऐसी सम्बन्धित चित्रकला के स्वरूप का निर्माण हुआ जो तत्कालीन धर्म तथा संस्कृति के पूर्णतः अनुरूप थी। उस समय के शासक वर्ग ने भी कलाओं की उन्नति में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान कर इसके सौन्दर्य में श्रीवृद्धि की।

भारत में चित्रकला का निर्माण—कार्य अनेक शताब्दियों तक किसी न किसी रूप में होता रहा परन्तु जब मुगलों ने भारत में प्रवेश करना आरम्भ किया तो रजवाड़ों की आपसी गृह—कलहों तथा विधर्मी सल्तनत के इन सुलतानों के कारण भारतीय समाज में सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हुए जिससे कला के अनवरत सृजन में एक अवरोध उत्पन्न हो गया। किन्तु मुगलों का उद्देश्य कला की इस पुनीत थाती को विध्वस्त करना नहीं था अपितु भारत में अपने अस्तित्व की जड़े जमाना था। कला प्रेम तो उनकी रगों में कूट—कूट कर भरा हुआ था। यहाँ तक की इस्लाम के कटु निषेध और अनेक प्रकार के प्रतिबंध भी मुगलों के कला—प्रेम को कम न कर सके (2) (गैरोला, वाचस्पति, 1963)।

भारत में मुगल सल्तनत का अधिष्ठाता जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर महान विजेता तैमर की पाँचवीं पीढ़ी में पैदा हुआ था। उसकी माता तथा मातामही मंगोल वंश की थीं इसलिए बाबर का शाही वंश मुगल वंश के रूप में विख्यात हुआ (3) (अग्रवाल, डॉ. श्याम बिहारी, 1999)। 1526 ई. की उसकी पानीपत विजय ने उसे हिन्दुस्तान का बादशाह बना दिया तथा बाबर व उसके पुत्र हुमायूँ ने दिल्ली—आगरा क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। धीरे—धीरे उसने राज्य का विस्तार किया (4) (अग्रवाल, डॉ. आर.ए., 2003)। बाबर एक वीर एवं साहसी योद्धा होने के साथ—साथ कला—प्रेमी, कला संरक्षक तथा कला—समीक्षक भी था। युद्ध क्षेत्र में नगरों को जीतकर वह वहाँ के कलाकारों को अपनी राजधानी भेज देता था। हुमायूँ भी अपने पिता के समान ही इतिहास, धर्म, साहित्य एवं काव्य को जानने वाला था, किन्तु उसने अपना पूरा जीवन संघर्ष एवं युद्ध के क्षेत्र में बिताया। गुजरात के बहादुरशाह और बंगाल के अफगान शेरशाह से पराभूत हो उसे दिल्ली सल्तनत छोड़ भारत से भागना पड़ा। जब वह फारस के शाह तहमास्प की शरण में था तो उसे वहाँ श्रेष्ठ कलाकारों से मिलने एवं उनकी कलाकृतियों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् 1544 ई. में जब वह

* असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

काबुल वापस आया तो वहाँ वह कुशल चित्रकार ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी और मीर सैयद अली से मिला जिनसे वह बहुत प्रभावित हुआ और पुनः दिल्ली का शासन हस्तगत करने एवं काबुल पर अधिकार करने के बाद उन दोनों कलाकारों को अपने दरबार में बुलवा लिया। इन्हीं दोनों कलाकारों द्वारा ईरानी एवं भारतीय शैलियों के समन्वय से मुगल चित्रकला की नींव रखी गई (5) (अग्रवाल, डॉ. श्याम बिहारी, 1999)।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर 13 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में साहित्य, संगीत एवं कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। अपने पिता से भेंट रूप में पाये हुए अब्दुस्समद और मीर सैयद अली जैसे चित्रकारों को उसने पर्याप्त मात्रा में उत्साहित किया। इन दोनों महान कलाकारों ने अकबर की रुचि और नीति के ही अनुसार कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य की भावना भर दी (6) (गैरोला, वाचस्पति, 1963)। अकबर ने एक विशाल चित्रशाला की भी स्थापना की। उसने चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया जिससे चित्रकला में विशेष अभिवृद्धि हुई। अकबर के समय में चित्रण सामग्री एवं रंग बनाने की विधि की ओर विशेष ध्यान दिया गया और चित्रांकन के लिए विशेष तैयारी होने लगी। उस समय ऐसे उत्कृष्ट चित्रकार तैयार हो गये थे जिनके चित्र विहजाद और यूरोप के चित्रकारों से टक्कर लेते थे। अकबर के कला-प्रेम के कारण इस काल में चित्रकारों ने चित्रों का एक विशेष एवं विस्तृत संग्रह तैयार किया। इसमें दरबारी चित्रों की संख्या सर्वाधिक थी। ये चित्र उसकी शक्ति, वैभव का प्रदर्शन करने हेतु एक सरल एवं सुलभ माध्यम थे। उसने न केवल अपने अपितु अपने पिता हुमायूँ एवं पितामह बाबर के समय की राजसी घटनाओं का भी चित्रण करवाया जिससे दरबारी चित्रों की संख्या में वृद्धि हुई।

अकबर के पश्चात् उसका पुत्र जहाँगीर, जिसका जन्म 30 अगस्त 1569 ई. को हुआ था "नुरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी" के नाम से 1605 ई. में सिंहासन पर बैठा। अपनी रुचि के अनुरूप चित्र बनवाने पर वह हजारों रूपया खर्च कर देता था। उसने अकबर की सभी मान्यताओं एवं परम्पराओं को आगे बढ़ाया। कला मर्मज्ञ राय कृष्णदास जी ने उसके विषय में लिखा है कि – जहाँगीर बड़ा ही सहृदय, सुरुचि सम्पन्न, परले दर्जे का चित्र प्रेमी, प्रकृति-सौन्दर्य-उपासक, वृक्ष-खग-मृग-विज्ञानी, संग्रहकर्ता, विशद वर्णनकार, पक्का जिज्ञासु, निसर्ग निरीक्षक और प्रज्ञावादी था। जिस बात को उसकी बुद्धि गवारा न करती, उसे पास न फटकने देता था (8) (अग्रवाल, डॉ. आर.ए., 2003)। जहाँगीरकाल में चित्रकला में नवीनता, मौलिकता, स्वाभाविकता, सजीवता तथा गतिशीलता थी। इस समय चित्रण कला के विभिन्न क्षेत्रों में इतना अधिक व उन्नत चित्रण कार्य हुआ कि यह काल मुगल शैली का स्वर्णयुग कहलाया।

चित्रकला के प्रति अटूट प्रेम व लगन उसे पैतृक गुण के रूप में प्राप्त हुयी। यदि अकबर को अप्रतीम विशेषज्ञों को अपने दरबार में रखने का शौक था, तो जहाँगीर उत्कृष्ट चित्रों का धनी संग्रहकर्ता था। (9) उसने अपने युवाकाल में ही चित्रकला को संरक्षण दिया और अपने चित्रकार नियुक्त किए। शासक बनने के पश्चात् उसकी चित्रशाला में अनेक चित्रकार वही थे जो कि उसके पिता अकबर की चित्रशाला में कार्य कर चुके थे (10) (वर्मा, अविनाश बहादुर)। यही कारण था कि चित्रकला के क्षेत्र में जहाँगीर को एक नयी स्थापना

नहीं करनी पड़ी वरन् उसके लिए एक जमी-जमायी कार्यशाला स्थापित थी, जहाँ वह अपनी कल्पना को कुशल चित्रकारों के द्वारा मूर्त रूप दिलवाकर अपने कला-प्रेम की पिपासा को शान्त कर सका। जहाँगीर की चित्रकला में रुचि तबसे अधिक हुई, जबसे उसने रूपछवि नूरजहाँ को अपनी रसिकप्रिया बनाया (11) (प्रताप, डॉ. रीता, 2012)।

जहाँगीर के प्रकृति प्रेमी होने के कारण इस युग में चित्रकला में प्रकृति एवं पशु-पक्षी का चित्रण अधिक हुआ। दरबारी चित्रों का अंकन बहुत ही अल्पमात्रा में हमें इस काल में देखने को मिलता है किन्तु फिर भी जो चित्र हमें प्राप्त होते हैं वो कलाकार के अभ्यास एवं श्रेष्ठता का ही परिणाम हैं जिसके कारण वे उत्कृष्ट चित्रों की श्रेणी में रखे जाते हैं। जहाँगीर काल के जो दरबारी चित्र हमें प्राप्त होते हैं, वे भी अन्य चित्रों की ही भाँति शासक की रुचि पर ही आधारित थे। इनके निर्माण का उद्देश्य भी तत्कालीन दरबारी अदब-कायदा, मुगल वैभव का प्रदर्शन करना था। इनसे हमें जहाँगीर के समय में प्रचलित दरबारी व्यवस्था का ज्ञान होता है। उस समय के दरबारी चित्र कम प्राप्त होने के उपरान्त भी इनमें उस दरबारी व्यवस्था में इतनी अधिक भिन्नता दृष्टिगत होती है, जितनी किसी अन्य के काल में नहीं मिलती। इन चित्रों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि मुगल सम्राट जहाँगीर परिवर्तन प्रेमी था। उसने अपने दरबार की विभिन्नताओं का प्रदर्शन इन चित्रों में करवाया है। मुगल शासक दरबार के माध्यम से अपना राजसी वैभव व शान-शौकत सरलता से प्रदर्शित कर सकते थे इसका प्रमुख कारण यह था कि वहीं पर सामान्य जन एवं विदेशी मेहमानों का आगमन होता था। इसलिए जहाँगीर ने पूरे भारत से श्रेष्ठ वस्तुओं को एकत्र करके उन्हें अपने दरबार में स्थान दिया। संभवतः इसी कारण हमें इन दरबारी चित्रों में प्रदर्शित व्यवस्था में अन्तर दृष्टिगत होता है। सिंहासन के भी विभिन्न प्रकार इन चित्रों में दिखाई देते हैं।

जहाँगीर के समय में दरबार के मुख्य तीन प्रकार होते थे – झरोखा दर्शन, दीवान-ए-आम तथा दीवान-ए-खास। यद्यपि इतिहास में हमें जहाँगीर के झरोखा-ए-दर्शन के उदाहरण मिलते हैं किन्तु फिर भी सामान्यतः हमें इसके चित्र प्राप्त नहीं होते। सम्भावना है कि वे नष्ट हो चुके हों। इस समय के दीवान-ए-आम तथा खास के चित्र ही अधिक उपलब्ध हैं। जहाँगीर ने अपने पिता अकबर द्वारा बनवाये गये दीवान-ए-आम व खास का प्रयोग ही दरबार के लिए किया था, परन्तु फिर भी दरबारी चित्रों में चित्रित उनकी साज-सज्जा एवं पृष्ठभूमि से ज्ञात होता है कि वे एक ही स्थान के नहीं अपितु भिन्न-भिन्न स्थानों के हैं। दीवान-ए-आम व खास के चित्रों को सामान्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम वे जिनमें जहाँगीर को सिंहासन पर बैठे हुए दिखाया गया है तथा द्वितीय वे जिनमें उसे झरोखा गद्दी पर बैठे चित्रित किया गया है। उपलब्ध चित्रों तथा नाम से ज्ञात होता है कि दीवान-ए-आम में जन-सामान्य को जाने की अनुमति थी जबकि दीवान-ए-खास में सम्राट के अतिरिक्त केवल विशिष्ट व्यक्तियों एवं मुख्य दरबारियों को उपस्थित होने की अनुमति थी।

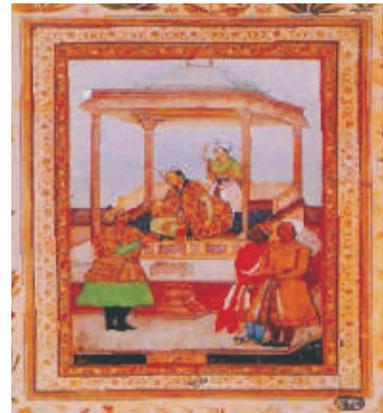
चित्रों के अध्ययन से पता चलता है कि जहाँगीर के समय में दरबार समय एवं परिस्थितियों के अनुसार भवन, बगीचे तथा युद्ध में लगाए जाते थे। स्थानों में विभिन्नता होने पर भी दरबार सम्बन्धी सामान्य तत्व इन सभी चित्रों में एक ही प्रकार के हैं। जैसे-दरबार का

केन्द्र-बिन्दु सम्राट की होता था अतः प्रत्येक चित्र में उसे एक ऊँचे स्थान पर सिंहासन पर गोल तकिया लगाए, बैठे चित्रित किया गया है। सिंहासन एवं झरोखे की छत पर एक लाल रंग का तम्बू (शामियाना) लगा होता था, क्योंकि लाल रंग राजसी वैभव का प्रतीक था। खुले स्थानों पर लगे दरबार में लाल रंग की कनात के द्वारा दरबार की सीमा-रेखा निश्चित की जाती थी जो कि युद्ध क्षेत्र में लगे दरबार के चित्रों में अंकित हैं। सिंहासन पर बैठे शासक को अधिक विशिष्ट दिखाने के हेतु कलाकारों ने शासक के चारों ओर कुछ रिक्त स्थान भी छोड़ा हैं। इस समय के अधिकांश चित्रों में सिंहासन के निकट फव्वारा भी चित्रित हुआ है। प्रारम्भिक दरबारी चित्रों को छोड़कर बाद के चित्रों में जहाँगीर के मुख के चारों ओर आभामण्डल बनाया गया है। श्री प्रेमशंकर द्विवेदी के अनुसार 'जहाँगीर अपने व्यक्तिचित्रों में संसार का सर्वश्रेष्ठ, देवोपम गुणों से युक्त व्यक्ति प्रमाणित करना चाहता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने व्यक्ति-चित्रों में आभामण्डल को चित्रित करवाया है'(12) (द्विवेदी, प्रेमशंकर तथा भारद्वाज, राधाकृष्ण)।

मुगलकालीन कलाकारों ने जहाँ एक ओर इन दरबारी चित्रों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है वहीं दूसरी ओर इस बात की ओर भी विशेष ध्यान दिया है कि वे दरबार में उपस्थित दरबारीगणों को भी उनके व्यक्तिपरक गुणों के सहित चित्रित करें। इन दरबारियों को विभिन्न मुद्राओं में कहीं समूह में तथा कहीं-कहीं शासक के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े हुए चित्रित किया गया है। अधिकांशतः दरबारीगण दोनों हाथों को सामने की ओर बांधे अंकित हुए हैं। अन्य मुद्राओं में एक छड़ी पर दोनों हाथ टेककर, आपस में विचार-विमर्श करते हुए दिखाये गये हैं। प्रत्येक दरबारी चित्र में एक दरबारी पोथी लिये या कुछ लिखते हुए भी चित्रित है। इसके अतिरिक्त इन चित्रों में किसी व्यक्ति को सम्राट से कुछ लेते या कोई (भेंट) उपहार देते हुए, झुककर सलाम करते हुए भी दिखाया गया है। दरबारियों के अतिरिक्त शाही व्यक्तियों, शहजादों को भी दरबार में खड़े हुए चित्रित किया गया है। शासक के पीछे प्रायः प्रत्येक चित्र में एक सेवक को चंवर लिए हुए भी अंकित किया गया है।

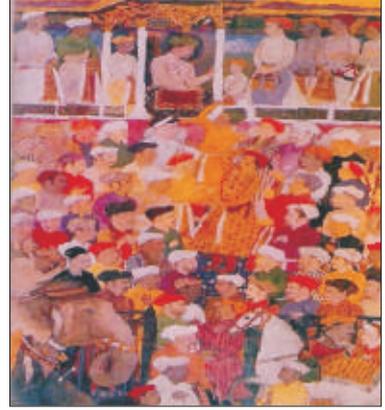
एक चित्र में (चित्र सं. 1) जहाँगीर को एक तकिया लगाए सिंहासन पर बैठे दिखाया गया है। बादशाह की कलाई पर एक पक्षी बैठा है तथा चित्र में बायीं ओर अपने दोनों हाथ जोड़कर कुछ कहता हुआ एक व्यक्ति चित्रित है। चित्र में दायीं ओर दो अन्य दरबारी भी खड़े हैं जो बादशाह की ओर देख रहे हैं। जहाँगीर के पीछे एक दास चंवर लिए खड़ा है।

दीवान-ए-आम के एक चित्र में (चित्र सं. 2) जहाँगीर को एक झरोखे में गद्दी पर बैठे अंकित किया गया है। बादशाह के सामने की ओर एक बालक जो वेशभूषा से शहजादा प्रतीत होता है दोनों हाथ बांधकर खड़ा है, जिससे जहाँगीर कुछ कह रहा है। बालक के पीछे चार व्यक्ति खड़े हैं जिनमें से एक के हाथ कुछ वस्तु है। बादशाह के पीछे तीन दरबारी भी



चित्र सं. 1 जहाँगीर का दरवार

खड़े हैं। झरोखे के नीचे एक व्यक्ति चंवर दुलाते हुए दिखाया गया है तथा उसके आस-पास अनेक दरबारीगण खड़े हैं। चित्र की अग्रभूमि में एक ओर तो हाथी व उस पर सवार महावत का अंकन है साथ ही दूसरी ओर एक घोड़े को भी दर्शाया गया है। इस चित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँगीर के दरबार-ए-आम में उस समय अनेक व्यक्ति उपस्थित होते थे, हाथी-घोड़े का अंकन तत्कालीन व्यक्तियों की सवारी व उस समय के दरबार की भव्यता को दर्शाने के लिये भी किया गया है। दरबार में उपस्थित भीड़ के माध्यम से भी उस समय के शासक की श्रेष्ठता का अनुमान होता है।



चित्र सं. 2 जहाँगीर का दरबार 1620

एक अन्य चित्र में (चित्र सं. 3) जहाँगीर शेख को एक पोथी भेंट कर रहे हैं। इसमें जहाँगीर के दरबार को एक शामियाने के भीतर दिखाया गया है। चित्र के मध्य में बादशाह एक चबूतरे पर तकिया लगाए बैठे हैं तथा उनके सिर के ऊपर भी शामियाना तना है जिसे लकड़ी के (खम्भों) शहतीरों के माध्यम से खड़ा किया गया है। चबूतरे के नीचे बादशाह के सामने कालीन बिछा है।

चित्र में बायीं ओर एक शेख अपने दोनों हाथ उठाकर जहाँगीर से पोथी ले रहा है। शेख के आस-पास अन्य दरबारी खड़े हैं जिनमें से एक के हाथ में पुस्तक व एक व्यक्ति के हाथ में छड़ी है। सभी व्यक्तियों की दृष्टि बादशाह की ओर ही केन्द्रित है। चित्र में दाहिनी ओर ग्यारह व्यक्ति खड़े हैं जिनमें से जहाँगीर के पीछे खड़े एक व्यक्ति के हाथ में चंवर, नीचे की ओर खड़े एक दरबारी के हाथ में छड़ी, एक के हाथ में तलवार, एक के हाथ में तशतरी व दो व्यक्तियों को (राजचिन्ह) पताका लिए अंकित किया गया है। चित्र की अग्रभूमि में कनात के बाहर खड़े व्यक्ति बन्दूक व अन्य अस्त्र-शस्त्र लिए सुरक्षा करते चित्रित हैं। इनमें भी दो व्यक्तियों के हाथ में छड़ी है जो दरबार की सुरक्षा करने वाले मुख्य दरबान प्रतीत होते हैं।



चित्र सं. 3 जहाँगीर शेख को एक पोथी भेंट करते हुए (1620)

एक चित्र में (चित्र सं. 4) जहाँगीर का दरबार बगीचे में लगा है व बादशाह राजकुमार परवेज का स्वागत कर रहे हैं। चित्र की पृष्ठभूमि में ईरानी शैली से प्रभावित पहाड़ बना है। दायीं ओर मुगल वास्तु का कुछ भाग व बायीं ओर वास्तु से लेकर दरबार को पृथक करती दीवार बनी है जिसके बाहर कुछ वृक्ष हैं। चित्र के मध्य में बादशाह जहाँगीर एक ऊँचे चबूतरे पर गद्दी लगाए बैठे हैं। यह चबूतरा सीढ़ीनुमा है जिस पर बादशाह के बैठने के स्थान से नीचे वाली सीढ़ी पर राजकुमार को खड़े दिखाया गया है जो अपने दोनों हाथों से बादशाह का एक हाथ पकड़े हैं। उनके बराबर में दस अन्य व्यक्ति खड़े हैं जिनमें से दो के हाथ में

छड़ी है व अन्य सभी अपने हाथ बांधे हुए हैं। चित्र में दाहिनी ओर छः व्यक्ति चित्रित हैं जिनमें से एक के हाथ में चंवर है। दरबार में उपस्थित सभी व्यक्तियों की दृष्टि बादशाह की ओर है। चित्र की अग्रभूमि में चबूतरे से नीचे एक फव्वारों का अंकन है। चित्र के हाशिये में चारों ओर उर्दू में कुछ लिखा गया है।

इन सभी चित्रों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जहाँगीर के समय में दरबारी व्यवस्था क्या थी। इन चित्रों के अवलोकन से तत्कालीन विषयों जैसे बादशाह द्वारा पोथी भेंट करना जो भेंट लेने वाले व्यक्ति के लिए सम्मान का प्रतीक था, शहजादों का दरबार में स्वागत, दरबार-ए-आम में जन-सामान्य की उपस्थिति, बादशाह को कोई भेंट स्वीकार करते तथा किसी से वार्तालाप करते, साथ ही उनके अपने निजी शौक-पक्षियों को देखते तथा अन्य अनेक दरबारी क्रिया-कलापों का भी ज्ञान होता है। इन्हीं चित्रों के द्वारा हमें इतिहास में वर्णित कथाओं के साक्ष्य भी मिलते हैं जिनका अंकन कलाकारों द्वारा अपने चित्रों में किया गया है। उस समय दरबार कैसे लगता था, बादशाह के बैठने का स्थान, दरबारी वस्तुएं, दरबार में खड़े व्यक्तियों के माध्यम से उनकी वेशभूषा तथा दरबारी अदब-कायदों आदि सभी का ज्ञान होता है। मुगल वास्तुकला, अस्त्र-शस्त्र, दरबार में प्रयुक्त होने वाले साज-सामान, बर्तन आदि का चित्रण कलाकारों ने अपने समयानुसार ही किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।



चित्र सं. 4 जहाँगीर राजकुमार परवेज का बगीचे में स्वागत करे हुए का दरवार 1620

बाग-बगीचों में लगे दरबार के चित्रों में विभिन्न प्रकार के वृक्ष अंकित हैं। इन चित्रों की पृष्ठभूमि में आकाश, वृक्ष, पहाड़, पक्षी, बादल तथा वास्तु आदि बनाये गये हैं। कहीं-कहीं इनमें यूरोपीय प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। अकबरकालीन चित्रों के समान ही जहाँगीर काल में बने दरबारी चित्रों में किसी-किसी स्थान पर फारसी में लिखे हुए लेख भी मिलते हैं। किन्तु अब हाशिये पहिले की अपेक्षा अधिक चौड़े एव अलंकृत बनने लगे थे तथा इनमें रेखा, पुष्प, पत्तियों, पक्षियों तथा सुलिपि तथा कहीं-कहीं मानवाकृतियों आदि का भी चित्रण होता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तत्कालीन चित्रकारों ने अपने बादशाह की रुचि के अनुसार ही चित्रों का निर्माण किया तथा उन वस्तुओं व व्यक्तियों का भी विवरण दिया जो दरबार का हिस्सा होते थे। इस प्रकार जहाँगीर कालीन दरबारी चित्र कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी अपना विशेष स्थान रखते हैं।

संदर्भ

1. दिवाकर, श्री रंगनाथ रामचन्द्र, संस्कृति की जीवन क्षमता, कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृ.सं. 68
2. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ.सं. 177

3. अग्रवाल, डॉ. श्यामबिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 92
4. अग्रवाल, डॉ. आर.ए., कला—विलास, इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, पृ.सं. 130
5. अग्रवाल, डॉ. श्यामबिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 93
6. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ.सं. 179
7. जहाँगीरनामा, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.सं. 12
8. अग्रवाल, डॉ. आर.ए., कला—विलास, इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, पृ.सं. 141
9. अवध चित्रकला एवं मुगल चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.सं. 106
10. वर्मा, अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास, पृ.सं. 246
11. प्रताप, डॉ. रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं. 144
12. द्विवेदी, प्रेमशंकर तथा भारद्वाज, राधाकृष्ण, भारतीय चित्रकला में व्यक्तिचित्र, पृ.सं. 50

भारतीय समाज में अनुसूचित जाति की स्थिति

राम अवतार सिंह जगनेरी*

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था व्यक्ति के गुण एवं कर्म के ऊपर ही आधारित मानी जाती थी किन्तु इस व्यवस्था में मनुष्य जन्मजात किसी समूह का सदस्य नहीं माना जाता था, किन्तु इनके गुण एवं कर्म ही एक विशेष वर्ण का स्थान दिलाने के लिए ही उत्तरदायी होते थे, इसलिए यह हित प्रधान व्यवस्था मानी गई थी।

लेकिन वर्ण व्यवस्था एक लचीली व्यवस्था है। इस व्यवस्था में एक व्यवसाय के निर्धारण के लिए व्यक्ति के गुणों व स्वभाव के आधार पर होता था और धीरे-धीरे इसमें कठोरता भी आती गई। और इस व्यवस्था ने अपरिवर्तन शीलता का रूप भी ले लिया और यह व्यवस्था बदलती चली गई और यह व्यवस्था जाति व्यवस्था बन गई। जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था की तरह खुली व्यवस्था नहीं थी, वल्कि यह जाति व्यवस्था एक बन्द वर्ग के रूप में अस्तित्व में आयी है।

जाति व्यवस्था एक वर्ण व्यवस्था का ही विकृत रूप है और जाति सामाजिक सम्बन्धों का एक सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारणों का एक सर्वप्रमुख आधार रही है। जाति व्यवस्था सामाजिक विभाजन का ही एक रूप है और इससे सम्पूर्ण समाज को उच्च व निम्न दो भागों में विभाजित किया गया है और इन दोनों भागों में एक पवित्रता और दूसरी में अपवित्रता की धारणा के आधार पर पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण हुआ है और इसी पवित्रता व अपवित्रता की धारणा के आधार पर समाज में उच्च व निम्न दो समूह हो गये और उच्च जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति पवित्र और निम्न जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति अपवित्र समझा जाता था। जाति की सदस्यता कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित थी और जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता था उसको उसी जाति की सदस्यता को ग्रहण करना पड़ता था।

लेकिन उच्च जातियों की अपेक्षा निम्न जातियों में भी अनेक प्रकार के विरोध पाये जाते थे और निम्न जातियों के सदस्य विवाह ही अपनी जातियों में करते थे और यह भी कठोर नियम था और जिसकी अवहेलना करने पर संसार से बहिष्कृत कर दिया जाता था, किन्तु जाति में उच्च समूह और निम्न समूह के अधिकारों में भी असमानता थी और उच्च समूह को निम्न समूह की अधिक अधिकार भी प्राप्त थे। किन्तु खान-पान एवं सामाजिक सहवास, व्यवस्था एवं पवित्रता व अपवित्रता सम्बन्धी धारणायें, संस्करण से सभी निषेध जाति की एक विशेषता बनकरही रह गये थे।

जाति की अपरिवर्तन शीलता एक दृढ़ व कठोर रूप में हमारे सामने आयी, और इसे एक बन्द वर्ग कहा गया। जाति की परिभाषाओं को अनेक विद्वानों ने अपने-अपने आधार पर यह स्पष्ट किया है और जिसका वर्णन इस प्रकार है :-

* शोधार्थी राजनीति विज्ञान जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

जाति का अर्थ— जाति शब्द का अर्थ एवं उत्पत्ति संस्कृति शब्द 'जात' से हुई है और जिसका अर्थ है जन ही इसका तात्पर्य है कि जिस समूह की सामाजिक स्थिति का निर्धारण एक जन्म के आधार पर होता है। उसे जाति कहते हैं।

जाति शब्द को अंग्रेजी शब्दों में 'कास्ट' कहते हैं और इसका अनुवाद माना जाए तो यह जन्म का महत्व भी स्पष्ट हो जाता है, लेकिन अंग्रेजी शब्द Caste लैटिन Casta से बना है और जिसका अर्थ है वंश नस्ल, नस्ल, जन्म तथा विभेद से है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जन्म, वंश अथवा प्रजातीय भेदभाव के आधार पर ही एक दूसरे से उच्च व निम्न समूहों का निर्माण होता है और वहाँ हम इसको एक जाति के रूप में देखते हैं।

जाति की परिभाषा— विभिन्न समाज शास्त्रियों के अनुसार जाति को अपने-अपने तरीके से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सेनार्ट के अनुसार— जाति व्यवस्था का तात्पर्य उस व्यवस्था से ही की जिसमें कोई भी समाज स्वयं में पूर्ण एवं अनेक पृथक इकाइयों में विभाजित होता है और इन सभी इकाइयों के पारस्परिक में उच्चता और निम्नता के क्रमों में भी धार्मिक आधार पर निर्धारित होते हैं।¹

माइकल के अनुसार— जाति व्यवस्था ही एक अनुवांशिक अन्तर्विवाही और व्यवसायिक समूह की ओर संकेत करते हैं। किन्तु इसमें अनेक कर्मकाण्डों और विश्वासों के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का जन्म के आधार पर निर्धारण करके इसमें किसी भी तरह के परिवर्तन पर नियंत्रण लगा किया जाता है।²

केतकर के अनुसार— जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है और जिसकी सदस्यता भी उन्हीं लोगों को मिलती है, जिन्होंने उसी ही समूह में जन्म लिया है और जिसके सदस्यों पर एक दृढ़ सामाजिक नियम के द्वारा ही अपने समूह से बाहर विवाह किये जाने पर नियंत्रण लगा दिया जाता है।³

चार्ल्स कूले के अनुसार— जब एक वर्ग पूर्णतः अनुवांशिकता पर आधारित होता है, तो उसे हम जाति कते हैं।⁴

मजूमदार एवं मदान के अनुसार— जाति एक बन्द वर्ग है।⁵

संदर्भ:

1. Senart, quoted by N.K. Dutta. Origin and Growth of Caste in India p. 2
2. G.D. Mitchell, dictionary of Sociology, p. 182
3. S.V. Ketkar, History of Caste in India, p. 15
4. When a class is somewhat strictly hereditary, we may call it a cast, C. Coolay, Social Organisation, p. 211
5. Caste is a closed class, Majumdar and Madan. An Introduction to Social Anthropology, p. 50.

ऋग्वेद में प्रयुक्त कथा—सूत्र एवं विविध आख्यान

डॉ. पुष्पा खण्डूरी*

प्रत्यक्षणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्येते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्यात् वेदस्य वेदता ॥
ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका — सायण, पृष्ठ—39

अर्थात् वेद की वेदता उसके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा दुर्बोध एवं अज्ञेय पदार्थों का ज्ञान कराने में निहित है। वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका तात्पर्य है ज्ञान अथवा जानना। संस्कृत व्याकरण के अनुसार विद् धातु में घञ् प्रत्यय जुड़ने पर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। यह प्रत्यय भाव, कर्म तथा करण का द्योतक है। इस प्रकार वेद शब्द के भी ज्ञान, ज्ञात करना और ज्ञान के साधन ये तीनों ही पर्याय हो सकते हैं। वेद साक्षात् ब्रह्म स्वरूप माने जाते हैं। ये वो आदि नित्य वाणी है जो नित्य ज्ञान स्वरूप है। यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती के शब्दों में कहें तो 'वेद सब सत्य विद्याओं का नाम हैं।' वेद मानव के प्राचीनतम साहित्य ग्रन्थ हैं— जिन्हें सृष्टि के आदि से अब तक अनन्त ऋषि मुनियों ने श्रुति परम्परा से सुरक्षित रखा है। वेदों का महत्त्व इस बात से भी सिद्ध होता है कि न केवल हमारे देश में अपितु पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने भी इसके अध्ययन मनन में विशेष रूचि प्रदर्शित की है। विन्टरनिट्ज, राथ, कीथ और मैक्समूलर ने भी वेदों पर अपने मत प्रकट किए हैं। वेदों की महिमा और महत्त्व प्रतिपादित करने हेतु वेदोत्तर साहित्य ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतिग्रन्थ पुराण यहाँ तक कि रामायण और महाभारत भी संलग्नक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शांखायन और ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। वेदों के महत्त्व और संरक्षण की दृष्टि से ऋषि मुनियों द्वारा सृजित अनुक्रमणी का भी विशेष महत्त्व है। प्रत्येक वेद से सम्बन्धित अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणियों में वेदमन्त्र, छन्द देवता आदि की सूचियाँ संकलित हैं।

वेदों पर चर्चा करते हुए जर्मन विद्वान विन्टरनिट्ज का मत है कि — 'वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। परन्तु भारतीयों के अनुसार वेद का अर्थ सर्वोत्कृष्ट ज्ञान कहा जा सकता है। वेद का तात्पर्य कुरान बाइबिल अथवा त्रिपिटक संदृश ग्रन्थ न होकर श्रुति परम्परा से संरक्षित शताब्दियों की अवधि में उदभूत साहित्य है जिसका मौखिक संचरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हुआ होगा। वेद ईश्वरीय ज्ञान अथवा विधान को एक जगह प्रस्तुत करने वाला विशाल वाङ्मय है।

वेदों की संख्या चार है। वैदिक साहित्य का प्रथम रूप संहिता है। संहिता का अर्थ है संग्रह। ये संहिताएं भी चार हैं— ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता। वैदिक वाङ्मय आज भी विश्व का सर्वमान्य एवं सर्वश्रेष्ठ वाङ्मय है।

ये भारतीय दर्शन, ज्ञान एवं कवित्व का अकूत भंडार है।

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी, डी.ए.वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून

वैदिक वाङ्मय के विषय के गहन अध्येता डॉ. राममूर्ति शर्मा वेदांग-साहित्य के विषय में चर्चा करते हुए अपनी पुस्तक वैदिक साहित्य का इतिहास की भूमिका में लिखते हैं— “वैदिक साहित्य से केवल ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता का ही आशय नहीं है, प्रत्युत वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक साहित्य और उपनिषत् साहित्य भी आता है। इस वैदिक वाङ्मय के तात्पर्य बोध हेतु वेदांग साहित्य की वैसी ही उपादेयता है जैसी कि शरीर रक्षा हेतु उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों की। वेदांग साहित्य के अन्तर्गत सूत्र, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त छंद और ज्योतिष शास्त्र आते हैं।”

मेरे द्वारा प्रस्तुत इस शोध पत्र का विषय मूलतः ऋग्वेद में अनुस्यूत संकेतित आख्यान हैं। यदि आधुनिक गद्य-साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं रोचक विधा ‘कहानी’ के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ये आख्यान ही उनका मूल स्रोत भी कहे जा सकते हैं। आख्यान से तात्पर्य ‘इतिवृत्तात्मक कथा’ से है। शोध-पत्र में सीमित आकार की बाध्यता के चलते सांकेतिक आख्यानों में से कतिपय प्रमुख आख्यानों की संक्षिप्त चर्चा ही यहाँ संभव है।

यदि उद्देश्य की दृष्टि से आख्यानों की बात करें तो उनका मुख्य ध्येय समाज को सुसंस्कृत करना एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना हेतु कान्तासम्मित शैली में उपदेश देना है। यथा ‘वामनावतार’ में हमें यह संदेश मिलता है कि हमें अभिमान नहीं करना चाहिए, छोटे से छोटे व्यक्ति को भी तुच्छ और हेय समझने की त्रुटि नहीं करनी चाहिए और न ही अपनी महानता का गर्व करना चाहिए।

आख्यानों के आगम का एक ओर भी उद्देश्य समझ में आता है कि गूढातिगूढ विषयों को आख्यानात्मक बनाकर उसे रूचिकर एवं सुग्राह्य बनाना।

स्वरूप एवं आकार की दृष्टि से हमें दो प्रकार के आख्यान दिखाई देते हैं। वृहत् आख्यान एवं उपाख्यान। वृहत् आख्यान प्राचीन परम्परा पर आधारित है। ये यज्ञादि की विधियाँ समझाने हेतु अधिकांशतः ब्राह्मणों में आए हैं।

उदाहरणार्थ ‘पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान’ इसी प्रकार के एक विशेष ‘अग्निहोत्र’ का विधान समझाने हेतु प्रस्तुत आख्यान है।

इसमें उल्लेख मिलता है कि— पुरुरवा एक राजा है जो उर्वशी नामक एक अप्सरा से प्रेम करने लगता है। किन्तु राजा की रानी बनने हेतु वह शर्तें रख देती है। उर्वशी को पाने हेतु गन्धर्व भी लालायित है। वे राजा की शर्त छल से भंग करवा देते हैं और उर्वशी राजा को छोड़कर चली जाती है। वियोग में पुरुरवा कुरुक्षेत्र में इधर-उधर भटकता फिरता है। जब पुरुरवा को उर्वशी नहीं मिलती तो वह स्वयं को पर्वत से गिराने लगता है इस पर उर्वशी कहती है—

पुरुरवो मा मात मृधा मा प्रसुप्तो मा त्वावृकासौ अशिवास उक्षन।

न वै स्ट्रेणानि सख्यानि सन्ति साला वृकाणां हृदयान्येता।।

(ऋग्वेद 10/95/15)

अर्थात् क्यों व्यर्थ में मरते हो, मरने से क्या लाभ स्त्रियों से शाश्वत मित्रता नहीं हो सकती उनका हृदय भेड़िये के समान होता है।

इस सूक्त में 18 ऋचाओं में पुरुरवा और उर्वशी संवाद मिलते हैं। पद्म सरोवर के तट पर उर्वशी और पुरुरवा का पुनर्मिलन होता है। राजा की विरहावस्था से पीड़ित दशा को देखकर उर्वशी द्रवित हो जाती है और एक वर्ष बाद मिलने का आश्वासन देती है, एक वर्ष बाद जब वह पुनः मिलन हेतु आता है तो उर्वशी कहती है कि कल तुझको गन्धर्व एक वर देंगे तुम तब उनसे गन्धर्वत्व की याचना करना राजन ने वैसा ही किया जब गन्धर्वों ने उन्हें एक विशेष प्रकार के 'अग्निहोत्र' करने का उपदेश दिया। यह आख्यान ऋग्वेद के 10/95/5, 10, 12, 15 पर आधारित है।

ऋग्वेद का एक और आख्यान— शुनशेष के नाम से प्रसिद्ध है— 'विदेह के राजा हरीश चन्द्र की सौ रानियाँ थी, परन्तु पुत्र एक भी नहीं था। एक दिन राजा के यहाँ नारद और पर्वत ऋषि आते हैं जिनसे राजा पुत्र की महत्ता के विषय में प्रश्न करता है। नारद दस श्लोकों में प्रश्न का उत्तर देते हैं और राजा को पुत्र प्राप्ति हेतु वरुण देव से प्रार्थना करने का परामर्श देते हैं। राजा वरुणदेव से पुत्र प्राप्ति हेतु प्रार्थना करता है तथा प्रतिज्ञा करता है कि पुत्र होने पर वह स्वयं उसे वरुण देव को बलि चढ़ा देगा तथा वरुण देव की पूजा देगा। किन्तु पुत्र होने पर वह इस प्रतिज्ञा को टाल जाता है और राजा का पुत्र घर छोड़कर भाग जाता है। इधर राजा को जलोदर हो जाता है। यह बात सुनकर उसका पुत्र पाँच बार घर पहुँचने का प्रयास करता है। परन्तु हर बार इन्द्र उसे रोक देता है। छठवें वर्ष में राजा क्षुधाकुल अजीगर्त नामक ब्राह्मण के मंजले पुत्र शुनशेष को बलि हेतु सौ गायों के बदले खरीद लेता है। कोई भी व्यक्ति शुनःशेष को यज्ञयूप में बाँधने को तैयार नहीं होता तब पुनः अजीगर्त सौ और गायों को लेकर अपने पुत्र को यज्ञ यूप से बाँधता है। शुनः शेष यह देख देवताओं से प्रार्थना करता है वह वैदिक विश्व देवों की स्तुति से देवों को प्रसन्न करने में सफल हो जाता है। अन्त में उषा की स्तुति के साथ उसकी श्रृंखलाएं गिर जाती हैं और राजा का जलोदर भी ठीक हो जाता है। विश्वमित्र शुनःशेष को अपना पुत्र बना लेते हैं।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा पर आधारित एक अन्य आख्यान 'देवापि शन्तनु' भी प्रसिद्ध है—

**यदेवापि भान्तनवेपुरोहितो होत्राय वृतः कृपन्नदीधत्
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो वृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥ (ऋग्वेद 10/98/07)**

वस्तुतः इस मंत्र में वृष्टि विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है विषय को रोचक एवं प्रभावशाली बनाने हेतु 'देवापि शान्तनु' आख्यान का आश्रय लिया गया है। देवापि का अर्थ यहाँ विद्युत तथा शन्तनु जल को कहा गया है। विद्युत कल्याणकारी जल की प्राप्ति के लिए पुरोहित बन कर सामर्थ्य को बढ़ाते हुए प्रकाशित होती है। महान गर्जन को प्राप्त होती है तत्पश्चात् वृष्टि होती है।

प्रतीकात्मक रूप में यह आख्यान इस प्रकार है कि देवापि और शन्तनु दो भाई थे। उनमें शन्तनु कनिष्ठ और देवापि ज्येष्ठ था। नियमानुसार ज्येष्ठ देवापि राज्य का अधिकारी

था, किन्तु शन्तनु उसका अतिक्रमण कर स्वयं राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। देवापि ने तप किया, फलस्वरूप शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर शन्तनु देवापि के समीप गया और क्षमा याचना की। देवापि ने कृपा करते हुए शन्तनु का पुरोहित बन वर्षा हो इस प्रकार का ध्यान किया। देवताओं से उस वृष्टि याचक देवापि के विषय में सुनकर ब्रह्मा ने देवापि के लिए वर्षा कराने वाली वाणी को दिया।

ऋग्वेद के एक अन्य ऋचा पर आधारित 'अपाला—इन्द्र आख्यान' भी विषय है। अत्रि मुनि की कन्या अपाला कुष्ठ रोग से पीड़ित की। उसने अपने रोग निवारण हेतु देवराज इन्द्र को तुष्ट किया तथा सोम रस से उसका सत्कार कर प्रार्थना की कि मुझे नवयौवना बना दीजिए—

**खे रथस्य खे ऽनसः खे युगस्य भातकृतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्यूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम ॥ (ऋग्वेद 8/91/7)**

'प्रजापति—दुहिता आख्यान' के अनुसार प्रजापति ने अपनी पुत्री का अनुगमन किया— इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेदादि में निम्न प्रकार से प्राप्त होता—

**प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायचत् ॥ (एतरेय ब्राह्मण 3/33/34)
प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कम् । (ऋग्वेद 10/61/7)
पिता दुहितर्गर्भमाधात् । (ऋग्वेद 1/164/33)
पिता यत्र दुहितुः सेकमृन्जन् । (ऋग्वेद 3/31/1)**

स्वामी दयानन्द ने इस कथा प्रसंग को ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के पृष्ठ 218 में 'ग्रंथ प्रामाण्या प्रामाण्यविषय, में इस प्रकार सुस्पष्ट किया है— कि सूर्य की दो कन्यायें हैं एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे पैदा होता है वह उसकी सन्तान कहलाता है इसीलिए उषाजों कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण सूर्य की कन्या कहलाती है उनमें से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य का किरण जा के पड़ती है वहीं वीर्य स्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है।

'यम यमी संवाद सूक्त' (ऋग्वेद 10/10) यम यमी का संवाद अत्यन्त विलक्षण है। वेबर साहब यम का अर्थ जोड़ा ग्रहण करते हुए यमी को यम का स्त्रीवाचक शब्द मानते हैं। इस सूक्त के सम्बन्ध में विन्टर निट्ज का मत भी कुछ इसी प्रकार का है— An old myth of the origin of human race from a first pair of twins underlies the Coverstin.

ऋग्वेद के 10वें मण्डल के सूक्त 10 में देवता एवं ऋषि दोनों ही यम यमी है। सायणादि आचार्यों के मत से ऋषि एवं देवता व्यक्तिवाचक भी है। पौराणिक सन्दर्भ में यम यमी विवस्वान के जुड़वाँ पुत्र एवं पुत्री है। अपने प्रवास क्रम में समुद्र के बीच निर्जन प्रदेश में यमी यम के संयोग से सन्तान प्राप्ति की कामना करती है—

**ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरु चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधाअधि क्षमि प्रतरंदीध्यानः ॥**

(ऋग्वेद संहिता, भाग-4, मं0 10/सूक्त 10/8866/01)

यम यमी संवाद सूक्त के अतिरिक्त इन्द्र वरुण संवाद, अग्नि तथा अन्य देवताओं के संवाद और इन्द्र-इन्द्राणी संवाद से सम्बन्धित सूक्त भी आख्यान सूक्तों के अन्तर्गत ही हैं। ये संवाद सूक्त पारस्परिक संवाद के रूप में हैं। पाश्चात्य विद्वान ओल्डनवर्ग ने भी इन्हें आख्यान सूक्त ही कहा है। ये संवाद अधिकांशतः पद्य रूप में हैं जबकि सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन गद्यात्मक है। ऋग्वेद में केवल पद्यांशों को ही स्थान दिया गया है। गद्य रूप पूर्णतयाः उपेक्षित है।

यमी के प्रस्ताव को ठुकराते हुए यम का कथन है कि ऐसा समय भविष्य में आ सकता है जिसमें बहिनें बन्धुत्व भाव रहित भाइयों को ही पति रूप में स्वीकार करें, किन्तु हे सौभाग्यवती आप मुझ से पतित्व सम्बन्ध की अपेक्षा न रखे आप किसी दूसरे से सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करें-

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।

उप बर्बृहि वृष भाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत ॥

(ऋग्वेद संहिता भाग-4, मं0-10/सूक्त-10/8875/10)

अधिकांश सूक्तों में यथार्थता की गुंजाइश भी नहीं दिखाई देती है। ऋग्वेद के दशम मण्डल को 85वाँ सूक्त सूर्योपाख्यान जिसमें सूर्य की कन्या का सोम के साथ अश्विनी कुमारों द्वारा सम्पन्न कराये गए विवाह का उल्लेख है।

उपर्युक्त आख्यानों के अतिरिक्त अगस्त्य, लोपामुद्रा, नहुश, उर्वशी, पणि सरमा, त्वष्टा, सरण्यू आदि के मूल भी ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त भागवत आदि पुराणों में भी वेदमन्त्रों में परिवर्तन एवं परिवर्धन कर कतिपय आख्यानों की सृष्टि की गई है। वृहद् आख्यानों के अतिरिक्त कुछ उपाख्यान भी हैं जो यज्ञीय विधि विशेष को सार्थक बनाने के लिए कल्पित प्रतीत होते हैं। ये उपाख्यान भी पर्याप्त रोचक हैं। इनमें से कई सृष्टि की उत्पत्ति विषयक कथाओं से भी सम्बन्ध रखते हैं। यज्ञ की आवश्यकताओं एवं समाज को स्वस्थ नैतिक एवं संस्कार युक्त जीवन प्रदान करने हेतु इन ऋग्वैदिक आख्यानों की बहुत ही सुन्दर भूमिका है ये वेदों के महत्त्व को शत-प्रतिशत बनाने हेतु अभूतपूर्व मील की पत्थर साबित हुए हैं।

सन्दर्भ

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ0 राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, द्वितीय संस्करण 1987
2. ऋग्वेद संहिता भाग-4, सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ मण्डल- 9-10, परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संवत् 2057
3. ऋग्वेद संहिता भाग-2, (मण्डल 3-6)
4. ऋग्वेद संहिता भाग-3, पश्टम् आवृत्ति, गायत्री जयन्ती संवत् 2061

5. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व – गणेशदत्त शर्मा, संस्करण, 1973, आगरा
6. ऋग्वेद भाष्य भूमिका– सायणचार्य, चौखम्बा, भवन वाराणसी – 1976
7. ऋग्वेद भाष्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर सं० 2020
8. ऋग्वेद में विविध विद्याएँ – डॉ० सुरेन्द्र कुमार, संजय प्रकाशन, ए-2/703, प्रगति विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000
9. ऋग्वेद सुबोध भाष्य – दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी 1967
10. ऋग्वेद भाष्य भूमिका – सायणाचार्य चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी, 1976
11. संस्कृत हिन्दी कोष, आदित्येश्वर कौशिक, प्रकाशक : आधुनिक प्रकाशन, 4-बी/6, गली नं. 7, गुरुद्वारा मौहल्ला, मौजपुर, दिल्ली- 110053

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता और नारी—समस्या

डॉ० अमृता*

‘स्त्रियों की समस्या’ ध्यानाकर्षक व समाज को प्रभावित करने वाला मुद्दा है। इस शोध—पत्र के माध्यम से स्त्रियों की समस्याओं का समाधान साहित्य व समाज के परिप्रेक्ष्य में ढूंढने का प्रयास किया गया है।

वर्तमान समय में स्त्रियों के प्रति हिंसा तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र जैसे—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी में पक्षपात एक सामान्य बात है। स्त्रियों के जीवन के निजी निर्णय, यहां तक कि शारीरिक सम्बन्ध से लेकर सन्तानोत्पत्ति तक के पुरुष ही लेते हैं। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा जीवित रहने व समाज में परिस्थितियों से जूझने की क्षमता अधिक है। फिर भी लड़कियों की संख्या निरन्तर घट रही है। नारी समस्या— भारत विकासशील देश है। लेकिन एक महिला के लिये जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी पहचान बनाये रखना कठिन कार्य है। कन्याभ्रूण हत्या, बाल्यावस्था में उपेक्षा, कम उम्र में विवाह, दहेज—प्रथा, बलात्कार, लिंग—भेद कुछ ऐसी समस्याएं हैं, जो उसे निरन्तर कमजोर बनाती हैं। इन समस्याओं पर विचार करें तो मूल कारण अशिक्षा, रीति—रिवाज, परम्पराएं तथा समाज की रूढ़िगत विचारधारा है जो स्त्रियों के प्रति भेदभाव उत्पन्न करती है।

स्त्री—समस्या भयावह आँकड़े

यदि मानवीय सभ्यता के गत दो हजार वर्ष को देखें तो पायेंगे कि स्त्रियों के साथ सर्वाधिक अमानवीय व्यवहार होता रहा है। आज भी किसी न किसी रूप में ये प्रथा हमारे समाज में अनवरत रूप में विद्यमान है। भारत की जनगणना—2011 को देखें तो एक हजार पुरुषों पर 940 महिलायें हैं।¹ केरल जहाँ साक्षरता दर 93.91 प्रतिशत वहाँ पर 1000 पुरुषों पर 1084 महिलायें हैं।² बिहार की साक्षरता दर 63.82 प्रतिशत, वहाँ पर 1000 पुरुषों पर मात्र 877 महिलायें हैं।³ इन आँकड़ों से पता चलता है कि कहीं न कहीं लिंगानुपात को प्रभावित करने वाले कारणों में अशिक्षा एक महत्वपूर्ण कारण है। कन्याभ्रूण हत्या के सन्दर्भ में हम 0—6 वर्ष तक की बालिकाओं की संख्या, जनगणना—2011के अनुसार देखें तो हरियाणा न्यूनतम लिंगानुपात वाला राज्य है, जहाँ 1000 लड़कों पर 877 लड़कियाँ हैं। हरियाणा की साक्षरता दर 76.64 प्रतिशत है। बिहार की साक्षरता दर 63.82 प्रतिशत है, जो सबसे कम साक्षरता वाला राज्य है।⁴ इससे ज्ञात होता है कि अशिक्षा के साथ—साथ कुछ अन्य कारण भी हैं जो ‘स्त्री समस्या’ के लिये उत्तरदायी हैं। वे कारण दहेजप्रथा, सामाजिक व्यवस्था आदि हो सकते हैं।

दहेज प्रथा

देश में औसतन एक महिला की दहेज सम्बन्धी कारणों से प्रत्येक घण्टे में मौत हो रही हैं। वर्ष 2007 से 2011 के बीच इस तरह के मामलों में बहुत वृद्धि देखी गई है। राष्ट्रीय

* असिसटेंट प्रोफेसर (तदर्थ) हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, देहरादून

अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आँकड़े बताते हैं कि विभिन्न राज्यों से वर्ष 2012 में दहेज हत्या के 8233 मामले सामने आए हैं। सन् 1961 में भारत सरकार ने दहेज विरोधी अधिनियम बनाया, जिसके प्रावधानों के अनुसार दहेज लेना व देना दोनों ही दण्डनीय अपराध हैं। इसके बाद सन् 1976 तथा 1984 में भी इस कानून में संशोधन किए गए। दहेज—प्रथा को समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा बनाये गए नियम कानून अधिक प्रभावी इसलिये नहीं हो सकते, क्योंकि कानून अपनी ओर से विवाह में तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि किसी के द्वारा शिकायत न की गई हो। यही कारण है कि नियम और कानून होने पर भी दहेज—प्रथा को नहीं रोका जा सका है। दहेज की खातिर विवाहिता को घर से निकाल दिया जाता है, उन्हें मार दिया जाता है या फिर उन्हें घर के अन्दर तिल—तिल कर जलने को मजबूर किया जाता है—

मैं सुलग रही हूँ
 लाल—लपट उठ रही हैं आकाश तक।
 मिथिला के बाद
 अयोध्या के भग्न हृदय में
 मैं सुलग रही हूँ
 मैं पार्वती
 मैं कमला
 मैं काया स्त्री की।⁵

कन्या भ्रूण हत्या—

सरकार की लाख कोशिशों के बावजूद समाज में कन्याभ्रूण हत्या निरन्तर बढ़ रही है। न जाने कितनी चंदा कोचर, किरन वेदी इस संसार में आने से पहले ही मार दी जाती हैं। स्त्री—पुरुष लिंगानुपात में कमी हमारे समाज के लिये कई खतरे पैदा कर सकती है। इससे सामाजिक अपराध तो बढ़ेंगे ही, महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों में भी वृद्धि हो सकती है। दुर्भाग्य की बात यह है कि यह कुरीति शिक्षित समाज में ज्यादा है। सन् 1981 में 0—6 वर्ष के बच्चों का लिंगानुपात 1000 लड़कों पर 962 था जो 1991 में घटकर 945 हो गया। सन् 2001 में यह अनुपात 927 तथा 2011 में मात्र 923 ही रह गया है। लिंगानुपात से पता चलता है कि कन्याभ्रूण हत्या की समस्या हमारे समाज में कितना विकराल रूप धारण करती जा रही है। सरकार ने कड़े कानून बनाकर सन् 2016—17 तक लिंगानुपात 1000 लड़कों पर 950 लड़की होने का लक्ष्य निर्धारित किया है। हमारे समाज में पुत्र—मोह के चलते हर वर्ष लाखों बच्चियों को इस संसार में आने से पहले ही मार दिया जाता है। इसके पीछे कहीं न कहीं दहेज भी एक प्रमुख कारण है—

खिलने दो खुशबू पहचानों, कलियों को मुस्काने दो
 आने दो रे आने दो उन्हे इस जीवन में आने दो
 जाने किस—किस प्रतिभा को तुम
 गर्भपात में मार रहे हो

जिनका कोई दोष नहीं, तुम
 उन पर धर तलवार रहे हो
 बंद करो कुकृत्य—पाप यह
 नयी सृष्टि रच जाने दो
 जिस दहेज दानव के डर से
 करते हो ये जुल्मों—सितम
 क्यों नहीं उसी दुष्ट—दानव को
 कर देते तुम जड़ से खत्म
 भ्रूण—हत्या का पाप हटे, अब ऐसा जाल बिछाने दो
 खिलने दो खुशबू पहचानों, कलियों को मुस्काने दो ।⁶

बलात्कार —

जिस देश में स्त्री को पूजा था, उसी देश में 'निर्भया' जैसा काण्ड हमारे लिये बहुत ही शर्म का विषय है। 6 माह की बच्ची से लेकर 70-80 वर्ष की वृद्धा सभी दुराचारियों की निगाह में सिर्फ और सिर्फ भोग का साधन मात्र हैं। जिस देश में सदाचार ही सबसे बड़ा धन समझा जाता था, उस देश में जेसिकालाल हत्या काण्ड बहुत बड़ी विडम्बना है—

कितना प्रमाणिक था उसका दुख
 लड़की को कहते वक्त जिसे मानों
 उसने अपनी अंतिम पूँजी भी दे दी
 माँ ने कहा लड़की होना
 पर लड़की जैसी दिखाई मत देना ।⁷

उपेक्षित जीवन —

प्रमुख अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन के अनुसार—शिक्षा असमानता व स्वास्थ्य असमानता हमारे देश में सबसे बड़ी समस्याएं हैं जो बालिकाएं व स्त्रियां झेल रही हैं ।⁸ इनसे पता चलता है कि समाज में स्त्री की स्थिति क्या है। भारत में जाति, सिद्धान्त, धर्म व समाज सभी जगह लड़कियाँ, लडकों से कमतर हैं। इसीलिए लड़कों को लड़कियों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है। लड़की का जन्म से लेकर विवाह व उसके उपरान्त भी कोई अपना घर नहीं होता—

मेरा कोई घर नहीं अब कहीं भी
 भूल रही हूँ लोरिया
 और उबटन की गन्ध
 काजल की दमक, फूलों की गमल
 दूध, ममता, रुलाई सब पार्थिव हो चले हैं रूई जैसे
 पार्थिव हो चली हूँ मैं
 लोरियों के बिना, मलिन हो रही हूँ बिना उबटन के⁹

समाज के सामने स्त्री का स्वरूप कुछ अलग दिखाया जाता है वहीं घर के भीतर कुछ अलग ही उसकी स्थिति होती है—

बाहर के आलोक में मैं
जितनी पूजित और अलभ्य हूँ
भीतर के अन्धकार में
उतनी अपमानित और सुलभ्य¹⁰

वह स्त्री जो धन पैदा नहीं करती। भले ही वह पूरे समय घर के कार्यों में लगी रहे,

फिर भी उसका पालन कर्ता पुरुष ही कहा जायेगा—

यह कैसे हो सकता है,
तुम भरो मेरा पेट और सताओ न
बताओ भला यह कैसे हो सकता है
कि एक स्त्री बिना भुगते रह सके जीवित¹¹

परमात्मा ने नारी के स्वभाव में कोमलता प्रदान की है। वह अपना उत्सर्ग कर पति का

भला करना चाहती है—

मैं पानी हूँ, तुम्हारी प्यास के लिए
मैं आग हूँ, केवल तुम्हारी रोशनी के लिए,
रोटियों के लिए, चिता के लिए
मैं स्त्री हूँ, तुम्हारे सुख के लिए¹²

समाज में बलात्कार, अपहरण, अपमान निरन्तर हो रहें हैं। जिनका कोई समाधान

दिखाई नहीं देता—

रोज हरण, रोज विलाप
पर निस्तार नहीं कोई
न कोई ठौर ठिकाना और
नित प्रति अपमानित कौर¹³

सन्तानोत्पत्ति से लेकर घर का सारा कार्य करने वाली स्त्री कुपोषण का शिकार रहती है। उसके खान-पान का ध्यान रखने वाला कोई नहीं होता है। लिंगभेद समाप्त करने के लिए लड़की को शिक्षित करना व उसके अच्छे स्वास्थ्य के लिये सार्थक प्रयास आवश्यक है। विश्व के कुछ देशों की ओर दृष्टिपात करें तो उत्तरी अमेरिका में 1000 लड़कों पर 1029 लड़कियाँ हैं। यूरोप में 1000 लड़कों पर 1076 लड़कियाँ हैं। वहीं भारत में ये संख्या निरन्तर घट रही है। यह आंकड़े दर्शाते हैं कि हमारी सोच कितनी कठोर है व हम स्त्रियों के प्रति कितना दुर्व्यवहार करते हैं।

महिला सशक्तीकरण की आवश्यकता —

महिलाओं का पूर्ण सशक्तीकरण तभी संभव है जब हम समस्याओं का जड़ से इलाज करें। पुरानी विचार-धारा, रीति-रिवाज तथा समाज में प्रचलित उन परम्पराओं को जो स्त्रियों के विरोध में हैं उन्हें खत्म कर दें। इसके लिए महिलाओं का शिक्षित करना, उन्हें आत्मनिर्भर बनाना आवश्यक है। इसके लिए व्यक्तियों को, सामाजिक संगठनों को सरकार व अन्य सामाजिक इकाइयों को एक साथ काम, करना होगा तथा नवीनीकरण के कार्यों को बढ़ावा देना होगा। तभी हम पूर्ण महिला सशक्तीकरण के विषय में सोच सकते हैं।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता में नारी —

इक्कीसवीं सदी का कवि स्त्री को एक सामान्य स्त्री के रूप में ही सामने लाता है, उसे किसी विचार-धारा से जोड़कर नहीं देखता। इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता में आम आदमी जिसमें स्त्री भी शामिल है उसके द्वारा झेले जाते भयावह सच को कहीं व्यंग्य, कहीं हँसी, कहीं विडम्बना, और कहीं तिरस्कार के भाव सहित व्यक्त करता है।¹⁴

आदिवासी ग्रामीण क्षेत्र जहाँ कोई किसी तरह की आधुनिक कही जाने वाली सुविधा, उपकरण आदि कुछ भी नहीं हैं। स्त्रियाँ आज भी गीली लकड़ियों को फूँकती हैं, जलाने की कोशिश करती हैं उन्हें मालूम नहीं फाग कब खिला, बसंत कब दस्तक दे गया और पलाश कब जंगल में आग-सा दहक उठा।¹⁵

आज स्त्री घरेलू काम के साथ अनेक जिम्मेदारियाँ उठा रही है। यही कारण है कि वह सब्जी में नमक डालना भूल जाती है, कभी भरी बरसात में हाथ में पकड़ी छतरी खोलना भूल जाती है, और कभी ऐसा भी होता है कि किसी नए बस-स्टॉप पर ही उतर जाती है।¹⁶

इक्कीसवीं सदी की कविता घर में बच्ची के द्वारा अपने दायित्व निबाहने और सबका ध्यान रखने को उजागर करती है। सारा घर जैसे स्त्री के ही इर्दगिर्द घूमता है बच्चों के बड़े हो जाने पर पिता बताते थे—

पिता बताते थे

घर माने

उनकी माँ

मेरी माँ

बस यही था पिता के लिए घर की अर्थ¹⁷

स्त्री की जिंदगी में पार्थिव सुख हों या नहीं हो, एक बच्चे को जन्म देकर वह स्वर्गीय सुख पा लेती है। तेज भागते ट्रक पर बैठी खान मजदूरिन अपने पति से सहारा पाकर बच्चे की क्षुधा शांत करने में तल्लीन है।¹⁸

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता में माँ की उपस्थिति सुकून देती है। बच्चे बड़े हो जाते हैं। माँ उनकी दोस्त हो जाती है जिससे वह अपना व्यक्तिगत कुछ भी छुपा कर नहीं रखते। स्त्री घरेलू हो या कामकाजी दोनों ही स्थितियों में उसे सुबह से रात तक खपना पड़ता है।

इसीलिए रोटी बेलते हुए मन—ही—मन बटन टॉक रही होती है और कपड़े धोते समय अपने बाल सुखा रही होती है इस तरह—

फिरकी सी फिरती रहती है
पगलायी वह
बच्चों को डाँटती—फटकारती¹⁹

हमेशा दूर से देखने में औत्सुक्य उत्पन्न करने वाली स्त्री को क्या पूरी तरह जान जाना संभव है? किन स्थितियों से गुजर कर वह आज जहाँ है, वहाँ तक पहुँच सकी है? उसके हालात का उतार—चढ़ाव, उसके संस्कार कैसे हैं? कौन बता सकता है? इक्कासवीं सदी का कवि चाहता है उसके दुख—दर्द को आवाज देना लेकिन वह असमंजस में है—

ठीक—ठीक क्या समेट पाऊँगा किसी औरत का टूटना फिर जुड़ना
किस हद तक जुड़ना, कितना बदल कर जुड़ सकना
उत्कृंटाओं और चहेतों के बदलते रंग ढग।²⁰

संदर्भ सूची —

1. प्रतियोगिता दर्पण, अतिरिक्तांक सामान्य अध्ययन, भारतीय अर्थव्यवस्था—2012, पृष्ठ—93
2. वही
3. वही
4. मनोहर पाण्डे, सामान्य ज्ञान—2014, अरिहन्त पब्लिकेशन्स, इण्डिया लिमिटेड पृष्ठ—69
5. बाधिसत्व, दुख—तन्त्र कविता संग्रह खण्ड दो—स्थापना, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—55, प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली—110003
6. मनोज भावुक, कविता, www.manojbhawuk.com
7. ऋतुराज, माँ का दुख कविता, वर्तमान साहित्य(कविता विशेषांक) अप्रैल—मई (संयुक्तांक) 1992, पृष्ठ—16
8. Amartya Sen, Many Face of Gender Inequality (volume18, issue22, oct.27-nov.09,2001)
9. बोधिसत्व, दुख—तन्त्र कविता संग्रह, खण्ड दो—स्थापना, प्रथम संस्करण पृष्ठ—48, प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली—110003
10. वही, पृष्ठ—45
11. वही, पृष्ठ—42
12. वही, पृष्ठ—53
13. वही, पृष्ठ—55
14. रंजना राजदान, सच से टकराता यथार्थ और इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता, पृष्ठ—124, शान्ति प्रकाशन, रोहतक, हरियाणा
15. वही, पृष्ठ—125
16. आशुतोष दुबे, यकीन की आयतें, पृष्ठ—89
17. विद्यानंद सहाय 'कहाँ होती नदी की गहराई', पृष्ठ—74—75
18. ऋतुराज, आशा नाम नदी, पृष्ठ—69
19. भगवत रावत, हमने उनके घर देखे, पृष्ठ—52
20. पंकज राग, यह भूमंडल की रात है, पृष्ठ—44—45

वैदिक ऋचाओं का सांगीतिक स्वरूप

डॉ. आशा पाण्डे कृष्ण*

संगीत का ललित कलाओं में प्रमुख स्थान रहा है। भारतीय परम्परा के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति सम + गै + क्त संगीत है अर्थात् गै धातु में सम उपसर्ग लगाने से यह शब्द बना है। गै का अर्थ गाना तथा सम (स) एक अवयव है, जिसका व्यवहार निरन्तरता, उत्कृष्टता, समानता, संगीत औचित्य आदि को सूचित करने के लिए किया जाता है।

संगीत का अर्थ सम्यक् गीतम¹ अर्थात् ध्यानपूर्वक या अवधान से गाया गया गीत है। पाश्चात्य संगीत—परम्परा में संगीत के लिए म्यूजिक (Music) शब्द मिलता है, जिसमें म्यूज (Muse) शब्द उन देवियों के लिए प्रयुक्त होता है जो सभी ललित कलाओं की अधिष्ठात्री मानी जाती है।

इस प्रकार भारतीय संगीत को अनादि माना गया है। यूँ तो संगीत का उद्गम मानव जाति के साथ ही हुआ है, परन्तु लिपिबद्ध रूप से संगीत वैदिक काल के वैदिक ग्रन्थों से प्राप्त होता है। वेदों को अपौरुषेय, अनादि एवं समस्त विधाओं का स्रोत माना गया है, वैदिक काल से तात्पर्य उस सुदीर्घ काल खण्ड से है जिसमें चारों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का तथा उनके विभिन्न अंगों का विस्तार हुआ।²

वैदिक काल में गीत वाद्य एवं नृत्य³ का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख व साम से संबंधित एक विशिष्ट प्रकार के प्रचुर साहित्य का सृजन इस बात को प्रमाणित करता है कि वैदिक काल में उच्च संगीत कला संगीत शास्त्र विकास के सोपान पर थे।

वैदिक काल में संगीत का स्वरूप क्या था? संगीत से सम्बन्धित विशाल साहित्य का सृजन अपने आप या एक दिन में हो गया हो, ऐसा नहीं माना जा सकता, निश्चित रूप से इसके पीछे संगीत शिक्षा की उस सुदीर्घ परम्परा रही होगी और कई संगीत शिक्षण की संस्थाएं कार्य कर रही होंगी, प्रस्तुत शोध पत्र वैदिक युग में संगीत के स्वरूप तथा उसकी परम्परा पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संगीत के लिखित रूप की सर्वप्रथम जानकारी वेदों से ही प्राप्त होती है। वैदिक काल में लोग प्रकृति के सौन्दर्य से अत्यन्त प्रभावित थे। वे नैसर्गिक तत्वों को जानकर उसकी पूजा करने लगे। प्राथमिक वैदिक काल में उषा, मरुत, वरुण, इन्द्र, मित्र, सूर्य आदि को ही देवता मानकर पूजने लगे। प्राकृतिक दृश्यों को देखकर मन में जो भाव आते थे उनसे स्वतः ही कण्ठ से विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती थी जिनसे नाना प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति होती थी। यही भावनायुक्त ध्वनियाँ संगीत के रूप में प्रकट हुईं। इस तरह देवताओं को खुश करने के लिए यज्ञों का निर्माण हुआ, जिसमें ऋग्वेद की ऋचाएं गायी जाती थी। ऋग्वेद के मंत्रों को ऋचा कहते हैं।⁴ जब ये मंत्र एक स्वर में गये जाते हैं तो ऋचा कहलाते हैं और यही मंत्र जब स्वर और आलाप सहित गाये जाते हैं तो यह साम बन जाते

* एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष संगीत, हेमवती नन्दन बहुगुणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल

हैं।⁵ साम की व्युत्पत्ति सा+अमः धातु से हुई है। सा का अर्थ ऋचा और अमः का अर्थ आलाप है अर्थात् आलाप से युक्त ऋचाओं को गाना।⁶

भारतीय संगीत की सबसे प्राचीन शैली वैदिक श्रोत है जिनको तीन प्रकार से गाया जाता था। जिसके लिए उदात्त अनुदात्त व स्वरित संज्ञा प्राप्त थी। पाणिनी शिक्षा में भी इन तीनों स्वरों का उल्लेख प्राप्त होता है। यही नहीं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञाएं व्याकरण शास्त्र में भी मिलती हैं। इसलिए विकासवादी विचारधारा के अनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक काल में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीन संज्ञाएं व्याकरण शास्त्र की थी, बाद में संगीत शास्त्रकाराओं ने इनको ग्रहण कर लिया है। भाष्यम के अनुसार “ऋचाओं को जब सामगीतों के रूप में गाने लगे, तब गद्य स्वराघातो की उच्च—नीचता सांगीतिक उच्च—नीचता में परिणित हो गयी।⁷

तैत्तिरीय प्रतिशारप्य में कहा गया है—

“उच्चेरुदान्तः नीचैरनुदात्तः

समाहारः स्वरित।”

नारदीय शिक्षा में आर्चिक, गाथिक सामिक और स्वरांतर का प्रयोग मिलता है।⁸

वैदिक काल में दो समानान्तर धाराओं में संगीत का प्रयोग होता है।

प्रथम वैदिक संगीत जो वेदों की भांति अनादि, पवित्र, नियमबद्ध, अपौरुषेय तथा अपरिवर्तनशील था। यह शास्त्र को कठोर नियमों में बंधा हुआ था। ऋचाओं का सस्वर पाठ और स्वरावलियों में बद्ध सामगान ही इसके रूप थे। इसीलिए वैदिक शास्त्रीय संगीत को साम की संज्ञा दी गयी थी जिसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर की आराधना करना तथा ईश्वर प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त करना था। महामुनि भरत ने इसे मार्गी संगीत का नाम दिया।⁹ द्वितीय लौकिक संगीत ईश्वर प्राप्ति के अतिरिक्त संगीत में जनरंजन की भी अद्भुत शक्ति पायी गयी। फलस्वरूप लौकिक संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। यह मनुष्य द्वारा निर्मित था इसके नियमों में शिथिलता थी जो लौकिक रुचि के अनुसार परिवर्तित होते जाते थे, इनमें से प्रथम तो अपरिवर्तनीय होने के कारण आज भी अपने परम्परागत तथा शुद्ध रूप में उपलब्ध है। परन्तु दूसरे देशकाल एवं रुचिगत परिवर्तनों के कारण वह अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। वैदिक संगीत तथा लौकिक संगीत क्रमशः मार्गी संगीत तथा देशी संगीत कहलाये।¹⁰

वैदिक काल में साम मार्ग संगीत था। यज्ञों में सामगान किया गया जाता था और यज्ञों के अवसर पर उद्गाता नामक गायक श्लोकों का गायन करते थे।¹¹ उद्गाता बनने वाले विद्यार्थियों को साम (राग) और ऋक श्लोक सीखन पड़ता था। सामवेद की वर्तमान कौथुम शाखा की गान संहिता में ग्रामेगेयगान में पचपन सामों के ऋषि ऐसे मिलते हैं जो कि समयोनि ऋचा के भी दृष्टा हैं। आरण्यगान में बारह गानों के ऋषि वे ही हैं जो उनकी समयोनि ऋचाओं के भी ऋषि हैं। उह्यगान में तीन सामों के वे ही ऋषि हैं जो उनकी योनिभूत ऋचा के भी ऋषि हैं। सामवेद की गान संहिता में इस प्रकारके जिन मंत्र दृष्टा ऋषियों के 'साम' संकलित हैं। उनमें वशिष्ठ, विश्वमित्र, शुनःशेय, वामदेव, कण्व, भारद्वाज, उषना आदि प्रमुख हैं।

यास्क ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में इन ऋषियों को 'साक्षात्कृतधर्मा' कहा है—

“साक्षात्कृत धर्माण ऋषयोबभूवः”¹²

जिन्होंने साम मंत्रों का दर्शन स्वयं अपनी साधना से किया था किसी से सीखकर नहीं। इस प्रकार इस उद्भव काल में संगीत अपने सृजनात्मक रूप में था प्रशिक्षण जन्य नहीं।

साम का एक स्वरूप ऐसा भी दिखाई पड़ता है जहां सामग ऋषि स्वयं तो ऋड मंत्र दृष्टा नहीं किन्तु संगीत की प्रतिभा अंतर से होने के कारण किसी अन्य ऋषि के द्वारा 'दृष्ट ऋचा' के ऊपर गान करता है। जैसे— “अतश्चिदिंद्र न उपा” नामक ऋचा के दृष्टा ऋषि श्रुतकक्ष है तथा इस सामयोनि ऋचा पर कौत्स नामक साम का गान करने वाले ऋषि कुत्स है। वर्तमान गान संहिता में ग्रामेगेयगान में 295 ऋचाएं ऐसी हैं जिनके दृष्टा ऋषि अन्य हैं तथा साम के दृष्ट ऋषि अन्य। आरण्यगान में 61 ऋचाओं के दृष्टा ऋषि उस पर गान करने वाले ऋषि से भिन्न हैं। उहगान में 102 ऋचाओं के दृष्टा ऋषि तथा गान के ऋषि भिन्न हैं।

उहगान में ऐसी ऋचाओं की संख्या 47 है। जिनके ऋक दृष्टा तथा साम के ऋषि अलग-अलग हैं। इस प्रकार सामगान करने वाले ऋषि को किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं थी। शास्त्रीय संगीत की प्रतिभा उसके अन्दर विद्यमान थी जिसके विकास के लिए उसने उपलब्ध ऋचाओं को आधार बनाया। उसकी मौलिकता में किसी को संदेह नहीं था।

साम परम्परा में वह उसी सामग ऋषि के नाम पर प्रचलित रहा और उस सामग ऋषि को भी साक्षात्कृतधर्मा के ही कोटि में रखा गया।¹³ संगीत के निर्माण काल में विकास की एक महत्वपूर्ण बात यह दिखाई देती है कि एक ऋषि एक ही ऋचा पर अनेक प्रकार से गान करता है जो कि उसकी संगीत प्रतिभा तथा संगीत साधना का प्रमाण है। इस सृजन काल में वैदिक साम का स्वरूप सरल था। देवताओं की स्तुति व भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए गान किया जाता था। इस काल में शास्त्रीय संगीत का विकास याज्ञिक पृष्ठभूमि में श्रेष्ठ कर्म की पूर्णता के लिए साम आवश्यक था। साम रहित यज्ञ, यज्ञ ही नहीं माना जाता था। उदाहरणार्थ—

“अयज्ञो वा एश यो सामा।”

यज्ञों की पृष्ठभूमि में वैदिक साम के विकास होने से उसके स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। साम की कई तकनीकों का विकास तथा गान की प्रक्रिया में भी कुछ परिवर्तन आये।

वैदिक साम के निर्माण काल में जहां एक सामग ऋषि स्वयं साम का गान करता था। वहां एक से अधिक व्यक्तियों को लिया जाने लगा। यज्ञों के सामगान के लिए एक उद्गातृवर्ग का अविर्भाव हुआ जिसके अन्तर्गत चार सदस्य उद्गाता 'प्रस्तोता' 'प्रतिहर्ता' और सूब्रह्मण्य होते थे और एक साम पांच या सात भागों में विभक्त करके गाया जाने लगा। जिसे साम भक्ति की संज्ञा दी गई। यथा —

“प्रस्तावोंदगीथ प्रतिहारोपद्रवनिघनामि पंचभक्त्यः।”

इस प्रकार ये भक्तियां प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार उपद्रव और निघन है,¹⁴ जिसमें प्रस्तोता नामक ऋत्विज प्रस्ताव उद्गाता उद्गीथ और उपद्रव का प्रतिहर्ता प्रतिहार का तथा अंत में तीन ऋत्विज मिलकर निघन भक्ति का गान करते थे। गान की इस तकनीक का यज्ञों में पूर्ण रूप से पालन करना पड़ता था, जरा भी त्रुटि होने पर यज्ञ के नष्ट होने का भय रहता था जिसके लिए प्रायश्चित भी करना पड़ता था।

इस प्रकार इस काल में मूल वैदिक साम ने जो स्वरूप ग्रहण किया वह प्रारम्भिक साम से काफी भिन्न था। इस काल में उद्गातृवर्ग के सदस्य वैदिक सामों के मूल गायक न होकर परम्परागत सामों को सीखकर गाने लगे थे जो कि मंत्र दृष्ट ऋषियों की श्रेणी में नहीं आते थे बल्कि उन्हें प्रशिक्षण देकर सामगान के लिए तैयार किया जाता था।

‘यास्क’ ने इस युग के सामगों का उपदेश द्वारा साम ग्रहण करने का संकेत किया है यथा—

“तेऽवरेभयोऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान संप्रादः।”
उस समय साम प्रशिक्षण तीन रूपों में प्रचलित था।
प्रथम रूप पिता द्वारा पुत्र को सामगान प्रशिक्षण—

प्राचीन काल से पिता द्वारा पुत्र को मंत्रों का उपदेश देने की परम्परा प्रचलित थी। वैदिक यज्ञों में जब ऋत्विज जाते थे तो अपने साथ अपने पुत्रों को भी ले जाते थे अपने पिता के साथ यज्ञों में भाग लेने के कारण पुत्र भीपिता से प्राप्त सामों का संरक्षण करना अपना परम कर्तव्य समझता था। इस तरह व्यक्ति का व्यवसाय बहुत कुछ वंश परम्परागत होता जा रहा था। वैदिक साहित्य में पिता द्वारा पुत्रों को दिये जाने वाले साम के व्यावहारिक प्रशिक्षण का उल्लेख मिलता है। जो व्यक्ति यज्ञों में सामगान में निपुण होता था, उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती थी।

साम—प्रशिक्षण का दूसरा रूप गुरुशिष्य परम्परागत साम प्रशिक्षण उद्गातृवर्ग का कार्य करने के इच्छुक विद्यार्थी दूर-दूर से आचार्य के पास साम का प्रशिक्षण लेते थे और यज्ञों में भाग लेते थे। वैदिक ग्रंथों में इस प्रकार के आचार्यों का अपने शिष्यों सहित यज्ञों में भाग लेने का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

गुरुकुल में जाकर साम का प्रशिक्षण प्राचीन काल में विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी। विद्यार्थी दूर-दूर से अध्ययन के लिए गुरुकुल में आते थे गुरुमुख से सुनकर अध्ययन किये जाने के कारण वेद को अनुश्रव भी कहा गया। यथा—

“गुरु मुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवोवेदः”¹⁵

प्राचीन काल में वेदों के प्रति सबकी आस्था तो होती ही थी पर वेदाध्ययन की भी विशेष परम्परा थी जिस प्रकार ऋग्वेदशाखी ऋग्वेद का, युजुर्वेदशाखी यजुर्वेद का तथा अथर्ववेद शाखी अथर्ववेद का विशेष अध्ययन करते थे उसी प्रकार सामवेद शाखी भी सामवेद

का विशेष अध्ययन करते थे। सामवेद की अनेक शाखाएं मिलती हैं उनसे ऐसा प्रतीत होती है कि सामगान का अध्ययन विशेष रूप से किया जाता था।

शिष्यों को पहले सामयोनि ऋचाओं का या आर्चिक संहिता का ज्ञान कराया जाता था और तदनंतर उन ऋचाओं पर तत्शाखी आचार्यों के द्वारा परम्परागत सामों का अध्ययन किया जाता था। उदाहरणार्थ— यदि आचार्य कुथुम शाखा की परम्परा का था तो उसके पास कुथुमशाखी शिष्य ही आते थे और उनको कौथुमशाखीय सामों का अध्ययन ही कराया जाता था। इन आश्रमों में जो साम का प्रशिक्षण दिया जाता था वह मौखिक परम्परा में था। आचार्य पहले शिष्य के सामने स्वयं साम का गान करते थे तब शिष्य उसका अनुसरण करते थे। उपदेश के समय लय को विलंबित रखा जाता था।

“शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद वृत्ति विलंबिताम्।”¹⁶

इस प्रकार जब तक शिष्य को वह साम पूर्ण, रूप से कंठस्थ न हो जाये तब तक यह प्रशिक्षण कार्य चलता रहता था और अपनी शाखा के सम्पूर्ण सामों का ज्ञान शिष्यों को कराया जाता था।

गुरु से अधीन साम कहीं विस्मृत न हो जाये इसलिए शिष्य प्रतिदिन उसका अभ्यास करते थे, जिसको स्वाध्याय कहा जाता था। यह स्वाध्याय नित्यकर्म की तरह किया जाता था।

उस काल में संगीत का जो सिद्धान्त पक्ष था उसके अध्ययन तथा प्रशिक्षण के लिए भी कई संस्थाएं कार्य कर रही थी। अन्य वेदों की भांति सामवेद की तकनीक तथा उसके सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए कई साम परिषदों की स्थापना हो चुकी थी। इन परिषदों में जिन ग्रन्थों का प्रणयन हुआ वे ‘पार्षद’ या प्रतिशाख्य कहलाएं, इन प्रतिशाख्यों में सामों के अध्यापन का भी उल्लेख मिलता है। इन आचार्यों के साम विषयक मत सामवेद के प्रतिशाख्य ग्रन्थों में मिलते हैं। ‘जैमिनीग्रहासूत्र’ के तर्पण प्रकरण में तेरह आचार्यों का जैमिनी तलवकार, सात्यमुग्र, राणायनि, दुर्वास, भागुरि, गौसंडि, गौर्गुल्वि, भगवन्तमौप, मन्यव, कारडि, सावर्णि, गार्ग्यवार्शगण्य तथा दैवंत्य का उल्लेख मिलता है जो सामगान कला में निपुण थे तथा सामगान परम्परा को आगे बढ़ाने वाले थे।¹⁷

वैदिक काल के प्रारम्भ में तीन स्वर उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित प्राप्त होते हैं।¹⁸ सम्भवतः यह तीनों स्वर षडज, ऋषभ तथा गान्धार होंगे और चौथा स्वर मध्यम होगा। उसी काल में चौथा स्वर कुष्ठा प्रयोग में आया।

उस समय षडज—

पंचम भाव की प्रधानता थी। अतः षडज पंचम संवाद भाव से पंचम घैवत तथा निशाद स्वर प्रचार में आये। इस प्रकार वैदिक काल में ही सातों स्वरों का उल्लेख मिलता है।¹⁹ साम नामक शास्त्रीय संगीत के कलात्मक तथा शास्त्रात्मक दोनों पक्षों का प्रशिक्षण होता था, इस प्रकार चारों वेदों में सामवेद ही संगीतमय है।²⁰ आज संगीत विद्यालयों में संगीत संस्थानों में

साम प्रशिक्षण बिल्कुल विलुप्त सा हो गया है, इसलिए संगीत की महत्ता स्वयं सिद्ध है। आज जहां चिकित्सा विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली है, वहीं चिकित्सा की अन्य थेरेपी के साथ वैकल्पिक पद्धति में म्यूजिक थेरेपी का चलन भी बढ़ा है। इसमें अनुसंधान के पश्चात् यह पाया गया है कि संगीत की ध्वनि तरंगों का मानव के मस्तिष्क पर तीव्रता से सुधारात्मक प्रभाव पड़ता है। इन प्राचीन वैदिक मंत्रों और ऋचाओं से सांगीतिक विशेषताएं उपलब्ध हैं। अतः म्यूजिक थेरेपी के रूप में इनका प्रयोग एक अभिनव प्रयोग है जिसे आगे बढ़ाया जा सकता है।

शास्त्रीय संगीत के प्रशिक्षण के साथ-साथ वैदिक साम प्रशिक्षण भी अनिवार्य रूप से दिया जाये ताकि भारतीय संगीत की प्राचीन पद्धति जो कि मूल श्रोत हैं उसकी रक्षा व संवर्धन हो सके।

सारांश –

वैदिक काल में 'साम' मार्ग संगीत था। यज्ञों में सामगान किया जाता था इस काल में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों का उल्लेख मिलता था। षडज पंचम संवाद से पंचम धैवत तथा निषाद स्वर प्रचार में आये। वैदिक काल में सातों स्वरों का उल्लेख मिलता है। सामगान देवताओं की स्तुति के लिए किया जाता था। जिसमें ऋषियों द्वारा ऋचाओं का गान होता था, इसलिए वैदिक शास्त्रीय संगीत को साम की संज्ञा दी गयी, जिसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर आराधना कर मोक्ष प्राप्त करना था।

इस प्रकार प्राचीन काल से ही स्वर-लय युक्त मंत्रों द्वारा ईश्वर की उपासना या आराधना की जाती थी। इस प्रकार वैदिक साम संगीत का समावेश पहली धारा में होता है और अवैदिक या लौकिक संगीत का समावेश इसी धारा में होता है। वैदिक काल में ये दोनों धाराएं समानान्तर रूप से चलती रही। प्रथम धारा 'मार्ग' तथा दूसरी 'देशी' कहलायी।²¹

वैदिक काल में 'साम' नामक शास्त्रीय संगीत के कलात्मक तथा शास्त्रात्मक दोनों पक्षों का प्रशिक्षण होता था जिसके द्वारा वह विकसित एवं प्रसारित हुआ।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में संगीत की तीनों विधाओं—गीत, वाद्य एवं नृत्य का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख पाया गया²² तथा संगीत-कला तथा संगीत-शास्त्र विकास के सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित थे।

संदर्भ सूची

1. डा0 शरच्चन्द्र श्रीधर पवंज पे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0-3
2. डा0 पंकजमाला शर्मा, सामगान, उद्भव, व्यवहार एवं सिद्धान्त, पृ0-1
3. पं0 शारंगदेव, संगीतरत्नाकर, पृथयस्वरगताध्याय, प्रथम-पदार्थसंग्रह प्रकरण, श्लोक-21
4. डा0 कर्ण सिंह, वैदिक साहित्य का विकास, पृ0-19
5. 'तस्माद्यज्ञात्त्वर्षुहृत ऋच्यः सामानि जज्ञिरे ।।' ऋग्वेद 10 / 10 / 9
6. डा0 कर्ण सिंह, वैदिक साहित्य का विकास, पृ0-66
7. नान्यभूपाल, भरतभाष्यम, भाग-1, टीकाकार चैतन्य देशाई, पृ0 24

8. डा0 शरच्चन्द्र श्रीधर पवंपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0-82
9. पं0 अहोबल, संगीत पारिजात, श्लोक नं0 21
10. डा0 शरच्चन्द्र श्रीधर पवंपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0-165
11. के0 वासुदेव शास्त्री, संगीतशास्त्र, पृ0 9-10
12. यास्क, निरुक्त 9-20
13. डा0 पंकजमाला शर्मा, सामगान, उद्भव, व्यवहार एवं सिद्धान्त
14. डा0 शरच्चन्द्र श्रीधर पवंपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0-73
15. वाचस्पति मिश्र-सांख्यतत्व कौमुदी 2
16. नारदीय शिक्षा 9-2-29
17. जैमिनी गृहसूत्र, तर्पण-प्रकारण, 9-96
18. चैतन्य देसाई, नाट्यभूपाल, भरतभाष्यम, भाग-1 टीकाकार, पृ0-24
19. धर्मावती श्रीवास्तव, प्राचीन भारत में संगीत, पृ0-27
20. डा0 शरच्चन्द्र श्रीधर पवंपे, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0-54
21. पं0 दामोदर मिश्र, संगीत दर्पण प्रथम अध्याय, श्लोक नं0 3
22. पं0 शारंग देव, संगीत रत्नाकर प्रथम पदार्थ संग्रह श्लोक नं0 21

शिक्षा में प्रयोजनवाद विकास में सहायक

डॉ. गोविन्द राम*

प्रयोजनवाद अंग्रेजी भाषा के Pragmatism शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी भाषा के Pragmatism शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'Pragma' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है किया गया कार्य। कुछ विद्वानों का मत है कि Pragmatism शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के अन्य शब्द 'Pragmatikos' से हुई है, जिसका अर्थ है व्यावहारिक या व्यवहार्य प्रयोग या किया। इस प्रकार इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर प्रयोजनवाद का अर्थ हुआ व्यावहारिकता। प्रयोजनवाद वह विचारधारा है जो उन्हीं कार्य अथवा सिद्धान्तों को सत्य मानती है जो किसी देशकाल और परिस्थिति में व्यावहारिक अथवा उपयोगी हों। प्रयोजनवाद को प्रयोगवाद, फलवाद, अनुभववाद और व्यवहारवाद भी कहा जाता है। प्रयोजन और उपयोगिता पर बल देने से इसे प्रयोजनवाद कहा जाता है। इसे प्रयोगवाद इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह प्रयोग को ही सत्य की एक मात्र कसौटी मानता है। चूंकि इसमें किसी कार्य का मूल्य उसके फल या परिणाम के आधार पर आंका जाता है। इसलिए इसे फलवाद कहा जाता है। व्यक्ति का व्यवहार अनुभव के द्वारा होने से अनुभववाद या व्यवहारवाद कहा जाता है। इस प्रकार प्रयोजनवाद, कोरी सैद्धान्तिक विचारधारा न होकर व्यावहारिक विचारधारा है। यह जीवन की व्यावहारिक क्रियाओं से उत्पन्न होती है। इस दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध मनुष्य तथा उसके जीवन से अधिक है। इस दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त अधिक मानवीय कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इसकी परिभाषा भी दी है। जो निम्न प्रकार से हैं :—

जेम्स बी० प्रेट

“प्रयोजनवाद हमें अर्थ का सिद्धान्त, सत्य का सिद्धान्त, ज्ञान का सिद्धान्त तथा वास्तविकता का सिद्धान्त देता है।”

रॉस

“प्रयोजनवाद आवश्यक रूप से एक मानवतावादी दर्शन है जो यह मानता है कि मानव क्रिया को करते हुए अपने मूल्यों का निर्माण स्वयं करता है कि वास्तविकता अभी निर्माण की अवस्था में है तथा अपने स्वरूप का कुछ भाग भविष्य के लिए छोड़ देती है कि हमारे सत्य मानव निर्मित वस्तुएं हैं।”

अतः इस आधार पर प्रयोजनवाद के निम्न सिद्धान्त दिए गए हैं :—

सिद्धान्त

1. सत्य की परिवर्तनशील प्रकृति।
2. सत्य का निर्माण उसके फल से होता है।

* असिस्टेंट प्रोफेसर शिक्षा शास्त्र विभाग डी०ए०वी० (पी०जी०) कॉलेज, देहरादून, (उत्तराखण्ड)

3. उपयोगिता के सिद्धान्त पर बल ।
4. मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है ।
5. वर्तमान तथा भविष्य में विश्वास ।
6. बहुत्ववाद में विश्वास ।
7. सामाजिक तथा जनतान्त्रिक दृष्टि कोणों में विश्वास ।

प्रयोजनवाद तथा आधुनिक शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है इस विचारधारा का नारा है परिवर्तन । इस वाद के अनुसार संसार परिवर्तनशील है यहाँ कि किसी वस्तु अथवा सिद्धान्त को सदैव के लिए सत्य नहीं कहा जा सकता । सभी वस्तुएं परिवर्तनशील है । शिक्षा के क्षेत्र में इस विचारधारा को प्रतिपादित करने का श्रेय विलियम जेम्स तथा प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी को है । डीवी के अनुसार किसी वस्तु की सच्ची उपयोगिता यही है कि वह मानव कल्याण के लिए उपयोगी हो । शिक्षा को भी उपयोगी उसी समय कहा जा सकता है जब उसके विभिन्न अंगों का सम्बन्ध मानव के कल्याण से हो । यदि शिक्षा अथवा शिक्षा संस्थायें मानव के लिए हितकारी एवं उपयोगी हैं तो ठीक है । अन्यथा इन्हें भी बदल जाना चाहिए ।

प्रयोजनवाद ने आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी चेतना एवं जागृति पैदा कर दी है । जिसके परिणामस्वरूप प्राचीन आदर्शों, परम्पराओं रूढ़ियों, अन्धविश्वासों का अन्त होता जा रहा है । इस विचारधारा की निम्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है ।

विशेषताएं

1. शिक्षा जीवन के रूप में अर्थात् जीवनक्रिया के रूप में होनी चाहिए ।
2. शिक्षा विकास के रूप में होनी चाहिए ।
3. शिक्षा निरन्तर अनुभवों के पुनर्निर्माण करने के रूप में होनी चाहिए ।
4. शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में होनी चाहिए ।
5. शिक्षा राज्य की जिम्मेदारी के रूप में होनी चाहिए ।

अतः इस विचारधारा की विशेषताओं के आधार पर ही प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं । जो निम्न प्रकार से हैं :-

उद्देश्य

1. सामाजिक कुशलता का विकास ।
2. नवीन मूल्यों का निर्माण करने की योग्यता का विकास ।
3. छात्र का विकास ।
4. गतिशील निर्देशन
5. लोक तन्त्रीय जीवन की शिक्षा
6. सामाजिक पर्यावरण के साथ अनुकूलन की योग्यता

अतः कहा जा सकता है कि प्रयोजनवाद ने क्रिया, प्रयोग, अनुभव, उपयोगिता तथा व्यक्ति के विकास एवं समाज की प्रगति पर बल देकर मानव के दृष्टिकोण को ही नहीं बदला

अपितु वर्तमान शिक्षा को एक नये मोड पर लाकर खड़ा कर दिया है। वास्तव में प्रयोजनवाद ऐसे गतिशील एवं लचीले व्यक्तित्व को विकसित करना चाहता है। जो साधन पूर्ण तथा साहसी बनकर अज्ञात भविष्य के नवीन मूल्यों का निर्माण करके सामाजिक दृष्टि से कुशल बन जाए।

सन्दर्भ—ग्रंथ

1. डॉ. गिरिश पचौरी, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ।
2. एन. आर. स्वरूप सक्सेना – आर. लाल बुक डिपो, मेरठ।
3. रमन बिहारी लाल – रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।
4. डॉ. गुरशरण दास त्यागी – विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा – 2।
5. डॉ. मृदुला रावल – विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा – 2।

भारतीय संसदीय लोकतंत्र एवं साझा सरकारें

हंसा चौधरी*

साझा 'कोलीशन' शब्द लैटिन भाषा के 'कोलीशियो' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'एक साथ बढ़ना'। राजनीति में 'साझा' शब्द से तात्पर्य है 'विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अस्थायी रूप से विचारों में एकता स्थापित कर सरकार का गठन एवं संचालन करना'।

साझा सरकारों में राजनीतिक गठबंधन दो प्रकार से होता है; प्रथम – चुनाव पूर्व गठबंधन एवं द्वितीय – चुनाव पश्चात् गठबंधन। गठबंधन के प्रथम प्रकार में राजनीतिक दलों द्वारा सीटों से संबंधित तालमेल स्थापित किया जाता है। द्वितीय प्रकार का गठबंधन चुनाव के पश्चात् होता है, जो सत्ता में भागीदारी पर आधारित होता है। इस प्रकार प्रथम प्रकार के गठबंधन लाभ की स्थिति में होते हैं, जबकि चुनाव पश्चात् गठबंधन में समझ एवं आपसी तालमेल का अभाव रहता है।

संसदीय शासन व्यवस्था में साझा राजनीति कोई असाधारण तथ्य नहीं है। चुनावों में जब कोई भी राजनीतिक दल व्यवस्थापिका के निचलें या लोकप्रिय सदन में बहुमत प्राप्त नहीं करता, तब कुछ राजनीतिक दल परस्पर मिलकर साझा सरकार का निर्माण करते हैं। सरकार का यह साझा स्वरूप यूरोप में बहुत सामान्य है।¹

सशक्त क्षेत्रीय दलों का उद्भव, विभिन्न सामाजिक समूहों के राजनीतिकरण एवं उनके सत्ता में भागीदारी के लिए संघर्ष ने समकालीन भारत में संघीय स्तर पर साझा सरकार को अनिवार्य बना दिया है।² भारतीय राजनीति में साझा राजनीति का इतिहास कांग्रेस दल के पतन के साथ प्रारम्भ होता है।³

वर्ष 1967 में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, बिहार आदि राज्यों में आयोजित चुनावों में कांग्रेस पार्टी के पतन के बाद सर्वप्रथम गठबंधन सरकारों का निर्माण किया गया। ये साझा सरकारें संयुक्त विधायक दल (एस.वी.डी.) के रूप में लोकप्रिय हुईं।⁴ इन राज्यों के अतिरिक्त ओडिशा, पश्चिम बंगाल, जम्मू-कश्मीर, केरल आदि राज्यों में भी समय-समय पर साझा सरकारों का निर्माण होता रहा है।

भारत में संघीय स्तर पर साझा सरकारों का सर्वप्रथम गठन वर्ष 1989 में हुआ है। इसके पश्चात् वर्ष 1996, 1997, 1998, 1999, 2004, 2009 एवं 2014 में गठबंधन सरकारें अस्तित्व में आईं।

भारत में जब से साझा सरकारों के निर्माण की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, तब से क्षेत्रीय दलों को एक पहचान प्राप्त हुई है। साझा सरकार के महत्वपूर्ण घटक के रूप में क्षेत्रीय दल अपनी सशक्त भूमिका का निर्वाह करते हैं। लेकिन गठबंधन सरकार में सम्मिलित दल अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं, जिसके लिए ये घटक दल साम-दाम-भेद-दण्ड की नीति का भी सहारा लेते हैं।

* सहायक आचार्य राजनीतिक विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

साझा सरकारें विभिन्न विरोधी विचारधाराओं वाले राजनीतिक दलों के द्वारा एक समय विशेष की आवश्यकता के अनुसार तालमेल स्थापित कर गठित की जाती है, जिसमें टकराव की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। कभी-कभी मतभेद की स्थिति घटक दलों द्वारा समर्थन वापसी के स्तर तक पहुंच जाती है, जैसाकि अधिकतर साझा सरकारों के साथ हुआ है। इससे शासन-व्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप अति महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील विषयों के संबंध में निर्णय लेना भी असंभव हो जाता है। इससे राष्ट्र के विकास की गति अवरूद्ध होती है। साझा सरकार में शामिल घटक दल सौदेबाजी की राजनीति का भी सहारा लेते हैं। यथा— अपने सदस्य हेतु मंत्रालय विशेष की माँग करना।

क्षेत्रीय दल किसी क्षेत्र-विशेष के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा संघीय स्तर पर गठबंधन सरकार का हिस्सा बनने पर भी राष्ट्रीय हितों की तुलना में क्षेत्रीय हितों को महत्त्व देते हैं, जिससे क्षेत्रवाद की मानसिकता का विकास होता है, जो देश के लिए नुकसानदायक सिद्ध होता है।

गठबंधन सरकारें विदेश नीति को भी प्रभावित करती हैं, क्योंकि घटक दल अपने क्षेत्रीय हितों को राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता देते हैं। यथा— भारत सरकार श्रीलंका के साथ कोई भी निर्णय तभी ले सकती है, जब अन्ना डी.एम.के. का अनुकूल समर्थन हो। अथवा तीस्ता नदी समझौता पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के कारण संभव नहीं हो पाया।

गठबंधन सरकार में प्रधानमंत्री की स्थिति कमजोर होती है, क्योंकि उसे विभिन्न विरोधी दलों में सामंजस्य स्थापित करना होता है। विभाग-वितरण उसे घटक दलों की अपेक्षाओं के अनुकूल करना पड़ता है। प्रधानमंत्री का अपने मंत्रिपरिषद् पर भी पूर्ण नियंत्रण नहीं होता है।

बहुत से अवसरों पर यह देखने को मिलता है कि कुछ राजनीतिक दल किसी दल विशेष को सत्ता से बाहर करने हेतु विचारधारागत विभिन्नता के विद्यमान रहते हुए भी एक मोर्चा गठित करते हैं, जैसाकि वर्ष 1977 में चार मुख्य राजनैतिक दलों ने मिलकर कांग्रेस (आई) पार्टी के विरुद्ध नए दल 'जनता पार्टी' का निर्माण किया था।

सामान्यतः किसी दल विशेष को बहुमत न मिलने के कारण गठबंधन सरकारें अस्तित्व में आती हैं, जिससे संवैधानिक संस्थाओं के कार्यों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा अनेक प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

यदि किसी भी साझा सरकार में सम्मिलित राजनीतिक दल किसी वर्ग विशेष या क्षेत्र विशेष के हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दे, तो साझा सरकार में बेहतर निर्णय-निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। परन्तु भारत में इस स्तर की राजनीतिक परिपक्वता का अभाव रहा है। परिणामस्वरूप भारत में साझा सरकारें वह प्रभाव स्थापित नहीं कर पाई हैं, जो कि एकदलीय सरकार स्थापित करने में सक्षम होती हैं।

संदर्भ

1. रेड्डी एस. जयपाल, 'रोग से खतरनाक उपचार', सहारा समय, लखनऊ, फरवरी 2004, पृ.सं. 22
2. पाटिल, एस.एच., 'इण्डियाज् ऐक्सपीरिमेण्ट विद् कोलीशन गवर्नमेन्ट एट् द फेडरल लेवल', इण्डियन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन, द इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, खण्ड-62, सं. 4, दिसम्बर 2001, पृ.सं. 586
3. रत्ना अनुराग, 'इम्पैक्ट ऑफ कोलीशन पॉलिटिक्स ऑन कौन्सिटीट्यूशनल डवलपमेन्ट ऑफ इण्डिया, इण्डियन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन, द इण्डियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, खण्ड-68, संख्या-2, अप्रैल-जून 2007, पृ.सं. 337
4. वही, पृ.सं. 337-338
5. वही, पृ.सं. 344

हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना की नींव

डॉ. सुशील भाटी*

इस ऐतिहासिक लेख का उद्देश्य शिवाजी के प्रधान सेनापति (सरे नौबत) प्रताप राव गूजर का हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना में योगदान पर प्रकाश डालना है।

मध्यकालीन भारत की बात है जब मुगल बादशाह औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण भारत देश की समस्त गैर सुन्नी मुसलमान जनता विशेषकर हिन्दू जनता त्रस्त थी। औरंगजेब ने जजिया कर, इस्लामिक राज्य में रहने वाले गैर मुसलमानों से लिया जाने वाला भेदभावपूर्ण कर, फिर से हिन्दू जनता पर लगा दिया था। नए हिन्दू मन्दिरों के निर्माण और पुराने मन्दिरों की जीर्णोद्धार पर भी रोक लगा दी थी। औरंगजेब ने राजपूती राज्यों जोधपुर और मेवाड़ के अन्दरूनी मामलों में दखल देकर मुगल साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया। कश्मीर और अन्य क्षेत्रों में बलात् धर्म परिवर्तन कराकर हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। इन परिस्थितियों में भारतीय जनमानस अपने आपको अपमानित, असहाय और हतोत्साहित अनुभव करने लगा। भारत की समस्त जनता, विशेषकर प्राचीन क्षत्रिय जातियों और कबीलों, जिनमें राजपूत, गूजर, जाट और अहीर प्रमुख थे, ने जगह-जगह संघर्ष प्रारम्भ कर दिये। महाराष्ट्र के मध्यकालीन सन्तों— नामदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ एवं समर्थ गुरु रामदास ने मराठी समाज के सामने ऊँच-नीच के भेदभाव रहित समाज का प्रारूप रखा, फलस्वरूप महाराष्ट्र में अभूतपूर्व सामाजिक एकता का विकास हुआ। इस पृष्ठ भूमि में मुगलों के विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए, लेकिन भारतीयों के जिस संघर्ष ने स्वतंत्रता संग्राम का रूप धारण कर लिया, वह था शिवाजी राजे के नेतृत्व में मराठों के द्वारा स्वराज्य की स्थापना के लिये संघर्ष। स्वराज्य निर्माण वास्तव में एक राज्य निर्माण से अधिक के भारतीयों के खोये पौरुष का पुर्ननिर्माण था। स्वराज्य निर्माण के लिए संघर्ष एक प्रकार से भारतीयों के अस्तित्व और स्वाभिमान का सवाल था।

अस्मिता के इस महासंग्राम में शिवाजी के अनेक सहयोगी और साथी थे, जिनमें एक विशिष्ट स्थान है उनकी अश्व सेना के प्रधान सेनापति (सरे नौबत) प्रताप राव गूजर का। प्रताप राव गूजर का, शिवाजी के उत्कर्ष और स्वराज्य स्थापना में, अति महत्वपूर्ण योगदान इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी के सन् 1674 में राज्यारोहण ठीक पहले के आठ वर्ष (चिटनिस के अनुसार 12 वर्ष) प्रताप राव गूजर ही शिवाजी के प्रधान सेनापति थे। प्रताप राव ने सरे नौबत के रूप में एक विशाल, सुव्यवस्थित और कार्यकुशल सेना का निर्माण किया। यह अश्व सेना पहाड़ी क्षेत्रों के तंग रास्तों पर दौड़ने और पलटकर तीव्रगति से शत्रु सेना पर आक्रमण करने के लिए अभ्यस्थ थी, यह पल भर में बिखरकर पहाड़ी रास्तों में गायब हो जाती थी, दूसरे ही पल अचानक प्रकट होकर शत्रु को घेर लेती थी। प्रताप राव वास्तव में एक योग्य सामरिक योजनाकार और निपुण सेनानायक था। वह मुगलों और बीजापुरी सुल्तानों के विरुद्ध अनेक महत्वपूर्ण और निर्णायक युद्ध की जीत का नायक रहा। सिंहगढ़,

* असि. प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बाजपुर, उधम सिंह नगर

सल्हेरी और उमरानी के युद्ध में उसकी बहादुरी और रणकौशल देखते ही बनता था। प्रताप राव के हैरत अंगेज जंगी कारनामों की मुगल और दक्कन के दरबारों में चर्चा थी।

प्रताप राव का वास्तविक नाम कड़तों जी गूजर था, प्रताप राव की उपाधि उसे शिवाजी ने सरेनौबत (प्रधान सेनापति) का पद प्रदान करते समय दी थी। प्रताप का अर्थ होता है— वीर। एक अन्य मत के अनुसार यह उपाधि शिवाजी ने उसे मिर्जा राजा जय सिंह के विरुद्ध युद्ध में दिखाई गई वीरता के कारण सम्मान में दी थी। प्रताप राव गूजर ने अपने सैनिक जीवन का प्रारम्भ शिवाजी की फौज में एक मामूली गुप्तचर के रूप में किया था। एक बार शिवाजी वेश बदल कर सीमा पार करने लगे, तो प्रताप राव ने उन्हें ललकार कर रोक लिया, शिवाजी ने उसकी परीक्षा लेने के लिए भांति—भांति के प्रलोभन दिये, परन्तु प्रताप राव टस से मस नहीं हुआ। शिवाजी प्रताप राव की ईमानदारी, और कर्तव्य परायणता से बेहद प्रसन्न हुए। अपने गुणों और शौर्य सेवाओं के फलस्वरूप सफलता की सीढ़ी चढ़ता गया शीघ्र ही राजगढ़ छावनी का सूबेदार बन गया।

इस बीच औरंगजेब ने जुलाई 1659 में शाइस्तां खां को मुगल साम्राज्य के दक्कन प्रान्त का सूबेदार नियुक्त किया, तब तक मराठों का मुगलों से कोई टकराव नहीं था, वे बीजापुर सल्तनत के विरुद्ध अपना सफल अभियान चला रहे थे। औरंगजेब शिवाजी के उत्कर्ष को उदयीमान मराठा राज्य के रूप में देख रहा था। उसने शाइस्ता खां को आदेश दिया कि वह मराठों से उन क्षेत्रों को छीन ले जो उन्होंने बीजापुर से जीते हैं। आज्ञा पाकर शाइस्ता खां ने भारी लाव—लश्कर लेकर पूना को जीत लिया और वहां शिवाजी के लिए निर्मित प्रसिद्ध लाल महल में अपना शिविर डाल दिया। उसने दक्कन का घेरा डाल कर उसे भी जीत लिया, 1661 में कल्याण और भिवाड़ी को भी उसने जीत लिया। प्रतिक्रिया स्वरूप शिवाजी ने पेशवा मोरो पन्त और प्रताप राव को अपने प्रदेश वापस जीतने की आज्ञा दी, मोरोपन्त ने कल्याण और भिवाड़ी के अतिरिक्त जुन्नार पर भी हमला किया। रेरी बखर व चिटनिस के वर्णन के अनुसार प्रताप राव गूजर ने मुगल क्षेत्रों में एक सफल अभियान किया। वह अपनी घुड़सवार सेना के साथ मुगलों के अन्दरूनी क्षेत्रों में घुस गया। मुगलों का समर्थन करने वाले गांव, कस्बों और शहरों को बर्बाद करते हुए वह गोदावरी तट तक पहुंच गया। प्रताप राव ने बालाघाट, परांडे, हवेली, गुलबर्गा, अब्स और उदगीर को अपना निशाना बनाया और वहां से युद्ध हर्जाना वसूल किया और अन्त में वह दक्कन में मुगलों की राजधानी औरंगाबाद पर चढ़ आया। महाकूब सिंह, औरंगाबाद में औरंगजेब का संरक्षक सेनापति था। वह दस हजार सैनिकों के साथ प्रताप राव का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। अहमदनगर के निकट दोनों सेनाओं का आमना—सामना हो गया। मुगल सेना बुरी तरह परास्त हुई। प्रताप राव ने मुगल सेनापति को युद्ध में हराकर उसका वध कर दिया। इस सैनिक अभियान से प्राप्त बेशुमार धन—दौलत लेकर प्रताप राव वापस घर लौट आया, प्रताप राव के इस सैन्य अभियान से शाइस्ता खां की मुहिम को एक बड़ा धक्का लगा। उत्साहित होकर मराठों ने अब सीधे शाइस्ता खां पर हमला करने का निर्णय लिया। मराठे, शिवाजी के नेतृत्व, में एक छद्म बारात का आयोजन कर उसके शिविर में घुस गये और शाइस्ता खां पर हमला कर दिया। शाइस्ता खां किसी प्रकार अपनी जान बचाने में सफल रहा परन्तु इस संघर्ष में शिवाजी की

तलवार के वार से उसके हाथ की तीन ऊँगली कट गयी। इस घटना के परिणाम स्वरूप एक मुगल सेना अगली सुबह सिंहगढ़ पहुंच गयी। मराठों ने मुगल सेना को सिंहगढ़ के किले के नजदीक आने का अवसर प्रदान किया। जैसे ही मुगल सेना तापों की हद में आ गयी, मराठों ने जोरदार बमबारी शुरू कर दी। उसी समय प्रताप राव अपनी घुड़सवार सेना लेकर सिंहगढ़ पहुंच गया और मुगल सेना पर भूखे सिंह के समान टूट पड़ा, पल भर में ही मराठा घुड़सवारों ने सैकड़ों मुगल सैनिक काट डाले, मुगल घुड़सवारों में भगदड़ मच गयी, प्रताप राव गूजर ने अपनी सेना लेकर उनका पीछा किया। इस प्रकार मुगल घुड़सवार सेना मराठों की घुड़सवार सेना के आगे-आगे हो ली। यह पहली बार हुआ था कि मुगलों की घुड़सवार सेना का मराठा घुड़सवार सेना ने पीछा किया हो। सिंहगढ़ की लड़ाई में प्रताप राव गूजर ने जिस बहादुरी और रणकौशल का परिचय दिया, शिवाजी उससे बहुत प्रसन्न हुए। अपनी इस शानदार सफलता से उत्साहित प्रताप राव ने मुगलों की बहुत सी छोटी सैन्य टुकड़ियों को काट डाला और मुगलों को अपनी सीमा चौकियों को मजबूत करने के लिए बाध्य कर दिया।

शाइस्ता खां इस हार और अपमान से बहुत शर्मिन्दा हुआ। उसकी सेना का मनोबल गिर गया। उनके दिल में मराठों का भय घर कर गया, शाइस्ता खां की इस मुहिम की विफलता से मुगलों की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी और उनका दक्कन का सूबा खतरे में पड़ गया। दक्कन में तनाव इस कदर बढ़ गया कि लगने लगा कि अब औरंगजेब स्वयं दक्कन कूच करेगा परन्तु कश्मीर और पश्चिमी प्रान्त में विद्रोह हो जाने के कारण वह ऐसा न कर सका। फिर भी उसने शाइस्ता खां को दक्कन से हटा कर उसकी जगह शहजादा मुअज्जम को दक्कन का सूबेदार बना दिया।

मराठों ने पूरी तरह मुगल विरोधी नीति अपना ली और 1664 ई० में मुगल राज्य के एक महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोत, प्रसिद्ध बन्दरगाह और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के केन्द्र, सूरत शहर को लूट लिया। इस तीव्रगति के आक्रमण में शिवाजी के साथ प्रताप राव गूजर और मोरो पन्त पिंगले और चार हजार मवाली सैनिक थे। सूरत की लूट से मराठों को एक करोड़ रुपये प्राप्त हुए जिसके प्रयोग से मराठा राज्य को प्रशासनिक और सैनिक सुदृढ़ता प्राप्त हुई। सूरत की लूट औरंगजेब सहन नहीं कर सका। इधर मराठों ने मक्का जाते हुए हज यात्रियों के एक जहाज पर हमला कर दिया। इस घटना ने आग में घी का काम किया और औरंगजेब गुस्से से आग-बबूला हो उठा। उसने तुरन्त मिर्जा राजा जय सिंह और दिलेर खां के नेतृत्व में विशाल सेना मराठों का दमन करने के लिए भेज दी। दक्कन पहुंचते ही दिलेर खां ने पुरन्दर का घेरा डाल दिया, जय सिंह ने सिंहगढ़ को घेर लिया और अपनी कुछ टुकड़ियों को राजगढ़ और लोहागढ़ के विरुद्ध भेज दिया। जय सिंह जानता था कि मराठों को जीतना आसान नहीं है, अतरु वह पूर्ण तैयारी के साथ आया था। उसके साथ 80000 चुने हुए योद्धा थे। स्थित की गम्भीरता को देखते हुए शिवाजी ने पहली बार रायगढ़ में एक युद्ध परिषद् की बैठक बुलायी। संकट की इस घड़ी में नेताजी पालकर जो कि उस समय प्रधान सेनापति थे, राजद्रोही हो गये। शिवाजी ने उन्हें स्वराज्य की सीमा की चौकसी का आदेश दे रखा था लेकिन जय सिंह की सेना के आने पर वह मराठों की मुख्य सेना को लेकर बहुत दूर निकल गये। शिवाजी ने उन्हें फौरन सेना को लेकर वापिस आने का आदेश दिया। परन्तु नेता जी

पालकर वापिस नहीं आये। नेता जी वास्तव में जय सिंह से मिल गये थे जिसने उन्हें मुगल दरबार में उच्च मनसब प्रदान कराने का वायदा किया था। सेनापति के इस आचरण से मुगल आक्रमण का संकट और अधिक गहरा गया।

संकट के इन क्षणों में प्रताप राव गूजर ने शिवाजी का भरपूर साथ दिया था। उसने एक हद तक मुगल सेना की रसद पानी रोकने में सफलता प्राप्त की और उसने बहुत सी मुगल टुकड़ियों को पूरी तरह समाप्त कर दिया। वह लगातार मुगल सेना की हलचल की खबर शिवाजी को देता रहा। संकट की इस घड़ी में प्रताप राव के संघर्ष से प्रसन्न होकर ही शिवाजी ने उसे सरे नौबत का पद और प्रताप राव की उपाधि प्रदान किया।

शिवाजी युद्ध की स्थिति का जायजा लेकर, इस नतीजे पर पहुंचे कि जय सिंह को आमने-सामने की लड़ाई में हराना सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने प्रताप राव गूजर को जय सिंह का वध करने का कार्य सौंपा। एक योजना के अन्तर्गत प्रताप राव जय सिंह के साथ मिल गये और एक रात मौका पाकर उन्होंने जय सिंह को उसके शिविर में मारने का एक जोरदार प्रयास किया परन्तु अंगरक्षकों के चौकन्ना होने के कारण जय सिंह बच गया। प्रताप राव गूजर शत्रुओं के हाथ नहीं पड़ा और वह शत्रु शिविर से जान बचाकर निकलने में सफल रहा। प्रताप राव का यह दुस्साहिक प्रयास भी स्वराज्य के काम न आ सका। जय सिंह से संधि की बातचीत शुरू कर दी गयी। जिसके परिणामस्वरूप 1665 में पुरन्दर की संधि हुई। सन्धि के अन्तर्गत शिवाजी को 23 महत्वपूर्ण दुर्ग मुगलों को सौंपने पड़े। बीजापुर के कुछ क्षेत्रों पर शिवाजी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुगल सेना में पांच हजारी मनसब प्रदान किया गया। शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों का साथ देने का वचन दिया। परन्तु बीजापुर के विरुद्ध मुगल-मराठा संयुक्त अभियान सफल न हो सका। इस अभियान के असफल होने से मुगल दरबार में जय सिंह की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। अतः उसने औरंगजेब को अपना महत्व दर्शाने के लिए शिवाजी को उससे मिलाने के लिए आगरा भेजा। मुगल दरबार में उचित सम्मान न मिलने से शिवाजी रूष्ट हो गये और तत्काल मुगल दरबार छोड़ कर चले गये। औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर उन्हें गिरफ्तार करा लिया। एक वर्ष तक शिवाजी आगरा में कैद रहे फिर एक दिन मुगल सैनिकों को चकमा देकर वह कैद से निकल गये और सितम्बर 1666 में रायगढ़ पहुंच गये। जब तक शिवाजी कैद में रहे स्वराज्य की रक्षा का भार पेशवा और प्रधान सेनापति प्रताप राव गूजर के जिम्मे रहा। शिवाजी की अनुपस्थिति में दोनों ने पूरी राजभक्ति और निष्ठा से स्वराज्य की रक्षा की।

आगरा से वापस आने के बाद शिवाजी तीन वर्ष तक चुप रहे। उन्होंने मुगलों से संधि कर ली। जिसके द्वारा पुरन्दर की संधि को पुनरु मान्यता दे दी गयी और संभा जी को पांच हजारी मनसब प्रदान कर दिया गया। संभाजी अपने अपने पांच हजार घुड़सवारों के साथ दक्कन की मुगल राजधानी औरंगाबाद में रहने लगे। परन्तु कम उम्र होने के कारण इस सैन्य टुकड़ी का भार प्रताप राव गूजर को सौंप कर वापस चले आये। मुगल-मराठा शान्ति अधिक समय तक कायम न रह सकी। औरंगजेब को शक था कि शहजादा मुअज्जम शिवाजी से मिला हुआ है। उसने शहजादे को औरंगाबाद में मौजूदा प्रताप राव गूजर को गिरफ्तार कर

उसकी सेना को नष्ट करने का हुक्म दिया। परन्तु सम्राट के हुक्म के पहुंचने से पहले ही प्रताप राव गूजर अपने पांच हजार घुड़सवारों को लेकर औरंगाबाद से सुरक्षित निकल आया।

मराठों ने मुगल प्रदेशों पर चढ़ाई कर दी। उन्होंने पुरन्दर की संधि के द्वारा मुगलों को सौंपे गये अनेक किले फिर से जीत लिये। 1670 में सिंहगढ़ और पुरन्दर सहित अनेक महत्वपूर्ण किले वापस ले लिये गये। 13 अक्टूबर 1670 को मराठों ने सूरत पर से हमला बोलकर उसे फिर लूट लिया। तीन दिन के इस अभियान में मराठों के हाथ 66 लाख रुपये लगे। वापसी में शिवाजी जब वानी-दिदोरी के समीप पहुंचे तो उनका सामना दाऊद खान के नेतृत्व वाली मुगल सेना से हुआ। ऐसे में खजाने को बचाना एक मुश्किल काम था। शिवाजी ने अपनी सेना को चार भागों में बांट दिया। उन्होंने प्रताप राव के नेतृत्व वाली टुकड़ी को खजाने को सुरक्षित कोकण ले जाने की जिम्मेदारी सौंपी और स्वयं दाऊद खान से मुकाबले के लिए तैयार हो गये। मराठों ने इस युद्ध में मुगलों को बुरी तरह पराजित कर दिया। दूसरी और प्रताप राव खजाने को सुरक्षित निकाल ले गया।

शाइस्ता खां इस हार और अपमान से बहुत शर्मिन्दा हुआ। उसकी सेना का मनोबल गिर गया। उनके दिल में मराठों का भय घर कर गया, शाइस्ता खां की इस मुहिम की विफलता से मुगलों की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी और उनका दक्कन का सूबा खतरे में पड़ गया। दक्कन में तनाव इस कदर बढ़ गया कि लगने लगा कि अब औरंगजेब स्वयं दक्कन कूच करेगा परन्तु कश्मीर और पश्चिमी प्रान्त में विद्रोह हो जाने के कारण वह ऐसा न कर सका। फिर भी उसने शाइस्ता खां को दक्कन से हटा कर उसकी जगह शहजादा मुअज्जम को दक्कन का सूबेदार बना दिया।

मराठों ने पूरी तरह मुगल विरोधी नीति अपना ली और 1664 ई० में मुगल राज्य के एक महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोत, प्रसिद्ध बन्दरगाह और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के केन्द्र, सूरत शहर को लूट लिया। इस तीव्रगति के आक्रमण में शिवाजी के साथ प्रताप राव गूजर और मोरो पन्त पिंगले और चार हजार मवाली सैनिक थे। सूरत की लूट से मराठों को एक करोड़ रुपये प्राप्त हुए जिसके प्रयोग से मराठा राज्य को प्रशासनिक और सैनिक सुदृढ़ता प्राप्त हुई। सूरत की लूट औरंगजेब सहन नहीं कर सका। इधर मराठों ने मक्का जाते हुए हज यात्रियों के एक जहाज पर हमला कर दिया। इस घटना ने आग में घी का काम किया और औरंगजेब गुस्से से आग-बबूला हो उठा। उसने तुरन्त मिर्जा राजा जय सिंह और दिलेर खां के नेतृत्व में विशाल सेना मराठों का दमन करने के लिए भेज दी। दक्कन पहुंचते ही दिलेर खां ने पुरन्दर का घेरा डाल दिया, जय सिंह ने सिंहगढ़ को घेर लिया और अपनी कुछ टुकड़ियों को राजगढ़ और लोहागढ़ के विरुद्ध भेज दिया। जय सिंह जानता था कि मराठों को जीतना आसान नहीं है, अतरु वह पूर्ण तैयारी के साथ आया था। उसके साथ 80000 चुने हुए योद्धा थे। स्थित की गम्भीरता को देखते हुए शिवाजी ने पहली बार रायगढ़ में एक युद्ध परिषद् की बैठक बुलायी। संकट की इस घड़ी में नेताजी पालकर जो कि उस समय प्रधान सेनापति थे, राजद्रोही हो गये। शिवाजी ने उन्हें स्वराज्य की सीमा की चौकसी का आदेश दे रखा था लेकिन जय सिंह की सेना के आने पर वह मराठों की मुख्य सेना को लेकर बहुत दूर निकल

गये। शिवाजी ने उन्हें फौरन सेना को लेकर वापिस आने का आदेश दिया। परन्तु नेता जी पालकर वापिस नहीं आये। नेता जी वास्तव में जय सिंह से मिल गये थे जिसने उन्हें मुगल दरबार में उच्च मनसब प्रदान कराने का वायदा किया था। सेनापति के इस आचरण से मुगल आक्रमण का संकट और अधिक गहरा गया।

संकट के इन क्षणों में प्रताप राव गूजर ने शिवाजी का भरपूर साथ दिया था। उसने एक हद तक मुगल सेना की रसद पानी रोकने में सफलता प्राप्त की और उसने बहुत सी मुगल टुकड़ियों को पूरी तरह समाप्त कर दिया। वह लगातार मुगल सेना की हलचल की खबर शिवाजी को देता रहा। संकट की इस घड़ी में प्रताप राव के संघर्ष से प्रसन्न होकर ही शिवाजी ने उसे सरे नौबत का पद और प्रताप राव की उपाधि प्रदान किया।

शिवाजी युद्ध की स्थिति का जायजा लेकर, इस नतीजे पर पहुंचे कि जय सिंह को आमने-सामने की लड़ाई में हराना सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने प्रताप राव गूजर को जय सिंह का वध करने का कार्य सौंपा। एक योजना के अन्तर्गत प्रताप राव जय सिंह के साथ मिल गये और एक रात मौका पाकर उन्होंने जय सिंह को उसके शिविर में मारने का एक जोरदार प्रयास किया परन्तु अंगरक्षकों के चौकन्ना होने के कारण जय सिंह बच गया। प्रताप राव गूजर शत्रुओं के हाथ नहीं पड़ा और वह शत्रु शिविर से जान बचाकर निकलने में सफल रहा। प्रताप राव का यह दुस्साहिक प्रयास भी स्वराज्य के काम न आ सका। जय सिंह से संधि की बातचीत शुरू कर दी गयी। जिसके परिणामस्वरूप 1665 में पुरन्दर की संधि हुई। सन्धि के अर्न्तगत शिवाजी को 23 महत्वपूर्ण दुर्ग मुगलों को सौंपने पड़े। बीजापुर के कुछ क्षेत्रों पर शिवाजी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुगल सेना में पांच हजारी मनसब प्रदान किया गया। शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों का साथ देने का वचन दिया। परन्तु बीजापुर के विरुद्ध मुगल-मराठा संयुक्त अभियान सफल न हो सका। इस अभियान के असफल होने से मुगल दरबार में जय सिंह की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। अतः उसने औरंगजेब को अपना महत्व दर्शाने के लिए शिवाजी को उससे मिलाने के लिए आगरा भेजा। मुगल दरबार में उचित सम्मान न मिलने से शिवाजी रुष्ट हो गये और तत्काल मुगल दरबार छोड़ कर चले गये। औरंगजेब ने क्रुद्ध होकर उन्हें गिरफ्तार करा लिया। एक वर्ष तक शिवाजी आगरा में कैद रहे फिर एक दिन मुगल सैनिकों को चकमा देकर वह कैद से निकल गये और सितम्बर 1666 में रायगढ़ पहुंच गये। जब तक शिवाजी कैद में रहे स्वराज्य की रक्षा का भार पेशवा और प्रधान सेनापति प्रताप राव गूजर के जिम्मे रहा। शिवाजी की अनुपस्थिति में दोनों ने पूरी राजभक्ति और निष्ठा से स्वराज्य की रक्षा की।

आगरा से वापस आने के बाद शिवाजी तीन वर्ष तक चुप रहे। उन्होंने मुगलों से संधि कर ली। जिसके द्वारा पुरन्दर की संधि को पुनरु मान्यता दे दी गयी और संभा जी को पांच हजारी मनसब प्रदान कर दिया गया। संभाजी अपने अपने पांच हजार घुड़सवारों के साथ दक्कन की मुगल राजधानी औरंगाबाद में रहने लगे। परन्तु कम उम्र होने के कारण इस सैन्य टुकड़ी का भार प्रताप राव गूजर को सौंप कर वापस चले आये। मुगल-मराठा शान्ति अधिक समय तक कायम न रह सकी। औरंगजेब को शक था कि शहजादा मुअज्जम शिवाजी से

मिला हुआ है। उसने शहजादे को औरंगाबाद में मौजूदा प्रताप राव गूजर को गिरफ्तार कर उसकी सेना को नष्ट करने का हुक्म दिया। परन्तु सम्राट के हुक्म के पहुंचने से पहले ही प्रताप राव गूजर अपने पांच हजार घुड़सवारों को लेकर औरंगाबाद से सुरक्षित निकल आया। मराठों ने मुगल प्रदेशों पर चढ़ाई कर दी। उन्होंने पुरन्दर की संधि के द्वारा मुगलों को सौंपे गये अनेक किले फिर से जीत लिये। 1670 में सिंहगढ़ और पुरन्दर सहित अनेक महत्वपूर्ण किले वापस ले लिये गये। 13 अक्टूबर 1670 को मराठों ने सूरत पर से हमला बोलकर उसे फिर लूट लिया। तीन दिन के इस अभियान में मराठों के हाथ 66 लाख रुपये लगे। वापसी में शिवाजी जब वानी-दिदोरी के समीप पहुंचे तो उनका सामना दाऊद खान के नेतृत्व वाली मुगल सेना से हुआ। ऐसे में खजाने को बचाना एक मुश्किल काम था। शिवाजी ने अपनी सेना को चार भागों में बांट दिया। उन्होंने प्रताप राव के नेतृत्व वाली टुकड़ी को खजाने को सुरक्षित कोकण ले जाने की जिम्मेदारी सौंपी और स्वयं दाऊद खान से मुकाबले के लिए तैयार हो गये। मराठों ने इस युद्ध में मुगलों को बुरी तरह पराजित कर दिया। दूसरी और प्रताप राव खजाने को सुरक्षित निकाल ले गया।

सूरत से लौटकर प्रताप राव गूजर ने खानदेश और बरार पर हमला कर दिया। प्रताप राव ने मुगल क्षेत्र के कुंरिजा नामक नगर सहित बहुत से नगरों, कस्बों और ग्रामों को बर्बाद कर दिया। प्रताप राव गूजर के इस युद्ध अभियान का स्मरणीय तथ्य यह है कि वह रास्ते में पड़ने वाले ग्रामों के मुखियाओं से, शिवाजी को सालाना 'चौथ' नामक कर देने का लिखित वायदा लेने में सफल रहा। चौथ नामक कर मराठे शत्रु क्षेत्र की जनता को अपने हमले से होने वाली हानि से बचाने के बदले में लेते थे। इस प्रकार हम वह तारीख निश्चित कर सकते हैं जब पहली बार मराठों ने मुगल क्षेत्रों से चौथ वसूली की। यह घटना राजनैतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण थी। इससे महाराष्ट्र में मराठों की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। यह घटना इस बात का प्रतीक थी कि महाराष्ट्र मराठों का है मुगलों का नहीं। अंततः मुगल सम्राट ने गुजरात के सूबेदार बहादुर खान और दिलेर खान को दक्षिण का भार सौंपा। इन दोनों ने सलहेरी के किले का घेरा डाल दिया। और कुछ टुकड़ियों को वहीं छोड़कर दोनों ने पूना और सूपा पर धावा बोल दिया। सलहेरी का दुर्ग सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। अतः शिवाजी इसे हर हाल में बचाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। शिवाजी सेना लेकर सलहेरी के निकट पहुंच गये। इस बात की सूचना मिलते ही दिलेर खां पूना से सलहेरी की ओर दौड़ पड़ा और उसने शिवाजी द्वारा भेजे गये दो हजार मराठा घुड़सवारों को एक युद्ध में परास्त कर काट डाला। मराठों की स्थिति बहुत बुरी तरह बिगड़ गयी। शिवाजी ने मोरोपन्त पिंगले और प्रताप राव गूजर को बीस-बीस हजार घुड़सवारों के साथ सलहेरी पहुंचने का हुक्म दिया। मराठों की इन गतिविधियों को देखते हुए बहादुर खां ने इखलास खां के नेतृत्व में अपनी सेना के मुख्य भाग को प्रताप राव गूजर के विरुद्ध भेज दिया। युद्ध शुरू होने के कुछ समय पश्चात् ही प्रताप राव ने अपनी सेना को वापसी का हुक्म दे दिया। मराठे तेजी के साथ पहाड़ी दर्रों और रास्तों से गायब होने लगे। उत्साही मुगल उनके पीछे भागे। पीछा करते हुए मुगल सेना बिखर गयी अब प्रताप राव ने तेजी से घूमकर मराठों को संगठित किया और दुगने वेग से हमला बोल दिया। मुगल सेना प्रताप राव के इस जंगी दांव से भौचक्की रह गयी। मुगल भ्रमित और भयभीत हो गये और उनमें भगदड़ मच गयी। इखलास खां ने मुगल

सेना को फिर से संगठित करने की कोशिश की, कुछ नई मुगल टुकड़ी भी आ गयी, घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया तभी मोरो पन्त भी अपनी सेना लेकर पहुंच गये। मराठों ने मुगलों को बुरी तरह घेर कर मार लगाई। मराठों ने मुगल सेना बुरी तरह रौंद डाली। कहते हैं कि मुगलों के सबसे बहादुर पांच हजार सैनिक मारे गये, जिनमें बाइस प्रमुख सेनापति थे। बहुत से प्रमुख मुगल योद्धा घायल हुए और कुछ पकड़ लिये गये। सलहेरी के युद्ध में मराठों की सफलता अपने आप में एक पूर्ण विजय थी और इसका सर्वोच्च नायक था प्रताप राव गूजर। सलहेरी के युद्ध में मराठों को 125 हाथी, 700 ऊट, 6 हजार घोड़े, असंख्य पशु और बहुत सारा धन सोना, चांदी, आभूषण और युद्ध सामग्री प्राप्त हुई। सलहेरी की विजय मराठों की अब तक की सबसे बड़ी जीत थी। आमने-सामने की लड़ाई में मराठों की मुगलों के विरुद्ध यह पहली महत्वपूर्ण जीत थी। इसी जीत ने मराठा शौर्य की प्रतिष्ठा को चार चांद लगा दिया। इस युद्ध के पश्चात् दक्षिण में मराठों का खौफ बैठ गया। युद्ध का सबसे पहला असर यह हुआ कि मुगलों ने सलहेरी का घेरा उठा लिया और औरंगाबाद लौट गये।

1672 के अन्त में मराठों और बीजापुर में पुनरु सम्बन्ध विच्छेद हो गये। अपने दक्षिणी क्षेत्रों की रक्षा की दृष्टि से मराठों ने पन्हाला को बीजापुर से छीन लिया। सुल्तान ने पन्हाला वापिस पाने के लिये बहलोल खान उर्फ अब्दुल करीम के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना भेजी। बहलोल खान ने पन्हाला का घेरा डाल दिया। शिवाजी ने प्रताप राव गूजर को पन्हाला को मुक्त कराने के लिये भेजा। प्रताप राव गूजर ने पन्हाला को मुक्त कराने के लिये एक अद्भुत युक्ति से काम लिया। प्रताप राव गूजर ने पन्हाला कूच करने के स्थान पर आदिलशाही राजधानी बीजापुर पर जोरदार हमला बोल दिया और उसके आसपास के क्षेत्रों को बुरी तरह उजाड़ दिया। उस समय बीजापुर की रक्षा के लिए वहां कोई सेना नहीं थी अतर्बु बहलोल खान पन्हाला का घेरा उठाकर बीजापुर की रक्षा के लिए भागा। लेकिन प्रताप राव ने उसे बीच रास्ते में उमरानी के समीप जा घेरा। बहलोल खान की सेना की रसद रोक कर प्रताप राव ने उसे अपने जाल में फंसा लिया और उसकी बहुत सी अग्रिम सैन्य टुकड़ियों का पूरी तरह सफाया कर दिया। बहलोल खान ने हार मानकर शरण मांगी। प्रताप राव ने संधि की आसान शर्तों पर उसे जाने दिया। प्रताप राव पन्हाला को मुक्त कराकर ही संतुष्ट था परन्तु शिवाजी ने शत्रु पर दिखाई गई उदारता पर अपनी नाखुशी प्रकट की। शिवाजी गलत नहीं थे, यह बहुत जल्दी ही सिद्ध हो गया। क्योंकि जैसे ही प्रतापराव बरार पर आक्रमण करने के लिये दूर निकल गया, बहलोल खान पुनरु अपनी सेना को संगठित कर पन्हाला की तरफ चल दिया। प्रताप राव खबर मिलते ही वापस लौटा और जैसरी के पास दोनों का आमना-सामना हो गया। प्रताप राव के पास मात्र 1200 सैनिक थे जबकि बहलोल खान की सेना में 15000 सैनिक थे। स्थिति को भांपते हुए शेष मराठा सेना खामोश रही, परन्तु अहसान फरामोश और कायर बहलोल खान को देखकर प्रताप राव अपने आवेग पर काबू न रख सका और वह बहलोल खान पर टूट पड़ा। मात्र 6 सैनिकों ने प्रताप राव का अनुसरण किया, वे बहुत साहस और वीरता से लड़े परन्तु शत्रु की विशाल सेना के मुकाबले लड़ते हुए सात वीर क्या कर सकते थे। अंततर्बु वे सभी वीरगति को प्राप्त हो गये। प्रताप राव की मृत्यु का सबसे अधिक दुरुख शिवाजी को हुआ। शिवाजी ने महसूस किया कि उन्होंने अपने बहादुर और विवसनीय सेनापति को खो दिया। प्रताप राव के परिवार से सदा के लिये

नाता बनाए रखने के लिए उन्होंने अपने पुत्र राजाराम का विवाह उसकी पुत्री के साथ कर दिया। प्रताप राव गूजर और उसके छह साथियों के बलिदान की यह घटना मराठा इतिहास की सबसे वीरतापूर्ण घटनाओं में से एक है। प्रतापराव और उसके साथियों इस दुस्साहिक बलिदान पर प्रसिद्ध कवि कुसुमग राज ने 'वीदात मराठे वीर दुआदले सात' नामक कविता लिखी है जिसे प्रसिद्ध पार्श्व गायिका लता मंगेश्वर ने गाया है। प्रताप राव गूजर के बलिदान स्थल नैसरी, कोल्हापुर, महाराष्ट्र में उनकी याद में एक स्मारक भी बना हुआ है।

प्रताप राव गूजर एक योग्य, वीर, साहसी, चतुर, देशभक्त, राजभक्त, स्वामीभक्त और कर्तव्यपरायण सेनानायक था। सरैनौबत के तौर पर उसमें एक योग्य संगठनकर्ता के गुण दिखलाई पड़ते हैं। शिवाजी के मुगल कैद में रहने के समय जिस प्रकार उसने स्वराज्य को संरक्षण प्रदान किया, वह उसकी हिन्दवी स्वराज्य के प्रति गहरी निष्ठा का अनुपम उदाहरण है। एक सेनानायक के तौर पर वह अहमदनगर, सिंहगढ़, सलहेरी और उमरानी के युद्धों का नायक था। प्रताप राव के नेतृत्व में ही मराठों ने मुगल घुड़सवार सेना को सिंहगढ़ के युद्ध में परास्त कर पहली बार पीछा किया था। प्रताप राव गूजर ही वह मराठा सेनापति था जिसने 1670 में मुगल क्षेत्रों से पहली बार स्वराज्य के लिय चौथ हासिल की थी। शिवाजी के कार्यकाल की सबसे भीषण और आमने-सामने की लड़ाई में मुगलों को सलहेरी के युद्ध में बुरी तरह परास्त करने का श्रेय भी प्रताप राव गूजर को ही प्राप्त है। हिन्दी स्वराज्य की खातिर उसने अपने प्राणों की बाजी लगाकर मुगल सेनापति जय सिंह को उसी के शिविर में हमला कर मारने का प्रयास किया। प्रताप राव गूजर अपनी अंतिम सांस तक हिन्दवी स्वराज्य के लिए संघर्षरत रहा और शिवाजी के राज्याभिषेक की तारीख 15 जून 1674 से मात्र तीन माह दस दिन पहले पांच मार्च 1674 को जैसरी के युद्ध में शहीद हो गया। प्रताप राव गूजर जैसे वीर, साहसी और देशभक्त बिरले ही होते हैं। वास्तव में वह उस तत्व का बना था जिससे शहीद बनते हैं। हिन्दवी स्वराज्य की राह में उसका बलिदान स्मरणीय तथ्य है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. एस. नीलकंठ, ए हिस्ट्री ऑफ दी ग्रेट मराठा एम्पायर, देहरादून, 1992
2. ग्रांट डफ, हिस्ट्री ऑफ मराठा
3. जदुनाथ सरकार, शिवाजी
4. जदुनाथ सरकार, औरंगजेब
5. ईलयट एंड डाउनसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन, खंड-VII
6. वेरिंग स्कॉट, हिस्ट्री ऑफ मराठा
7. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, भारत का इतिहास
8. प्रभाकर भावे, प्रताप राव गूजर
9. अग्नि दिव्य, महापराक्रमी प्रताप राव गूजर
10. महादेव गोविन्द रानाडे, राइज ऑफ मराठा पावर

मध्य प्रदेश में निवासित जनजातियों की आर्थिक स्थिति

डॉ. दिनेश शाक्य*

मध्य प्रदेश में निवासित जनजातियों का आर्थिक जीवन वन एवं वनोपज पर आधारित है। इसके कारण आर्थिक साधन जुटाने के लिए इन्हें दिन-दिन भर जंगलों में भटकना पड़ता है। इनकी दिनचर्या प्रातः से प्रारम्भ होती है, जिसमें यह बासी रोटी खाकर जंगल चले जाते हैं। जंगल में दिन भर जड़ी-बूटी, फल-फूल, पत्तें इत्यादि को एकत्रित करने में लगे रहते हैं। अन्न और भोजन के अभाव में यह रात के समय भोजन के बजाय कन्दमूल को पकाकर खाते हैं।

जनजातियों का आर्थिक जीवन उनकी भौगोलिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। 80 प्रतिशत से अधिक प्राकृतिक वन सम्पदा एवं खनिज आदिवासी क्षेत्रों में व्याप्त है। इनको आस-पास के जंगल और जमीन, पहाड़, नदी, पानी से जो मिल जाता है। ये अपना काम उसी से चला लेते हैं। जिन आदिवासियों के पास खेती है, वे लोग कृषि कार्य में लगे रहते हैं। जिनके पास खेती नहीं होती है वे अन्य कार्यों में जैसे— मछली पकड़ना, घर बनाना, मजदूरी करना, खेतिहर मजदूर व छोटे-मोटे व्यवसायों में लिप्त रहते हैं। स्वतंत्रता पूर्व जनजातिया कृषि कार्य नाममात्र के लिये करती थी, क्योंकि इनके पास कृषि योग्य भूमि का पूर्णतः अभाव था तथा जंगली कंदमूल, फल-फूल, शिकार करना, लकड़ी एवं अन्य वनोपज इन्हें आसानी से प्राप्त हो जाती थीं जिनसे ये अपनी जीविका चलाते थे। जब से ये ग्रामीण एवं कस्बाई समाजों के सम्पर्क में आये हैं तब से कृषि, कृषि मजदूरी, पशुपालन आदि करने लगे हैं। हांलाकि भारत सरकार द्वारा वनों को रक्षित करने का कानून बना दिया गया है और इन्हें हानि पहुँचाना एवं वन्य पशुओं का शिकार करना दण्डनीय अपराध घोषित किया है, फिर भी ये लोग वनों से अपनी आय का एक बड़ा भाग हासिल कर ही लेते हैं।

1. वनों पर निर्भरता

मध्य प्रदेश की जनजातियां परम्परागत रूप से अपना जीवन यापन करने के लिए वनों पर निर्भर रहती हैं। वनों पर निर्भरता इसलिए भी है कि वे जंगल के वातावरण को छोड़कर बाहरी वातावरण में जाने की सोच भी नहीं सकते, जंगल में उन्हें अपनी जीवन उपयोगी वस्तुएँ अत्यधिक सरलता से उपलब्ध हो जाती हैं। जिनसे इनकी दैनिक आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

मध्य प्रदेश की जनजातियां मुख्यतः दो प्रकार के भौगोलिक वातावरण में निवास करते हैं। जिसमें एक को परम्परागत—स्थिति कह सकते हैं जिसमें ये जंगल में अपना निवास स्थान बनाकर जंगली वातावरण में, जंगली संसाधनों पर निर्भर रहते हैं। दूसरी ओर यह जंगल से बाहर समतल मैदान में बस्ती बनाकर एकजुट होकर रहते हैं। जहाँ वे जंगली वातावरण से बाहर रहते हैं और जीवन यापन के लिए मजदूरी पर आश्रित रहते हैं। यह खेतों में, भवन निर्माण, सड़क निर्माण इत्यादि काम में मेहनत मजदूरी करके रोजी-रोटी कमाते हैं।¹

* अध्यापक, जी.एम.एस. ध्याली, मुरार, ग्वालियर

वन वस्तुओं का संग्रह

आदिवासी आदिकाल से ही वनों से जुड़े हुए हैं और आरम्भ से ही उनकी आजीविका का साधन वन ही रहें हैं। अब वनों पर प्रशासनिक व्यवस्था के बाद भी वनों में काम करने वालों में आदिवासी प्रमुख हैं। जनजाति अपने भोजन के लिए अनेक वस्तुओं को वनों से ही प्राप्त करती है। परन्तु अब वनों को प्रशासनिक व्यवस्था के अर्न्तगत कर दिया गया है और वनों से संबंधित अनेक कानून बना दिये जाने के कारण ये लोग विभिन्न प्रकार की वनोपज के संग्रहण में केवल एक मजदूर की भूमिका अदा करते हैं। वनों से ये लोग लाख, गोंद, महुआ, तेंदूपत्ता, मौहलाइन का पत्ता, कत्था (खैर के वृक्ष से प्राप्त), आंवला, शहद, जड़ी-बूटियां, हर्रा, बहेरा, विविध प्रकार की पत्तियां, घास, खजूर, सरई, करोंदा, मकोरा, जामुन, आम, कोंदों, मुराद (कमल की जड़), गंगेलुआ, अंजीठा, इमली, खजूर की जड़ आदि का संग्रह करते हैं। जिन्हें अपनी आवश्यकता के लिये भी बचा कर रख लेते हैं, व कुछ सामाग्री को स्थानीय बाजारों, कस्बों आदि में बेचकर आवश्यकता की वस्तुएं जैसे— तेल, नमक, कपड़ा, श्रंगार का सामान, दैनिक उपयोग की वस्तुएं, गुड आदि खरीदते हैं।²

2. कृषि कार्य

आदिवासी समाज अत्यन्त सरल होता है और इनकी निजी आवश्यकतायें बहुत सीमित होती हैं। इन सीमित आवश्यकताओं के लिए प्रधानतः ये लोग वनों पर निर्भर रहते हैं परन्तु आज के युग में वन राज्य की संपदा हैं। आदिवासियों द्वारा वनों का परम्परागत उपयोग अपव्यय के रूप में देखा जाने लगा है। सिमटते हुए वन और उन पर निरन्तर बढ़ते हुए प्रतिबन्धों एवं दबाव के कारण आदिवासी समाज कृषि कार्य की ओर मुड़े हैं। आरम्भिक कृषि स्थानान्तरी प्रकार की थी, परन्तु इसका स्वरूप बदलकर स्थायी कृषि हो गया है। इस राज्य के अधिकांश आदिवासी किसी न किसी रूप से कृषि कार्य से जुड़े हैं। जनजाति समाज भी कृषि की अनेक अवस्थाओं को पार करता चला आ रहा है। जिससे ये अपना व अपने परिवार का भरण—पोषण कर रहीं हैं। जनजातियों के पुरुष व महिला दोनों ही कृषि कार्य में लगे रहते हैं। जिनके पास स्वयं की भूमि नहीं है, वे दूसरों की भूमि को जोतते हैं। जिसे स्थानीय भाषा में 'बटिया' कहते हैं। जनजाति समाज के लोग आज भी पुराने तरीके से कृषि करते हैं। ये लोग आज भी आधुनिक कृषि यन्त्रों, रासायनिक खादों और उन्नतशील बीजों से अंजान हैं। ये आज भी कृषि कार्य पुराने कृषि उपकरणों से करते हैं।³

कृषि पद्धति

मध्य प्रदेश की जनजातियां आज भी परम्परागत तरीके से कृषि कार्य कर रही हैं। ये लोग सिंचाई के लिए वर्षा ऋतु का इन्तजार करते हैं, व वर्षा होने पर ही अपने खेतों की जुताई करते हैं। ये लोग हल, बखर, पाटा, नारी, कुदाल, खुरपी, हंसिया, बैलगाड़ी आदि का प्रयोग कृषि कार्य में करते हैं। आदिकाल से वे कृषि को जीवन यापन करने की विधि समझते आ रहे हैं। इस विधि को बदल पाना उनके लिए आसान नहीं है।

सिंचाई के साधन

जनजाति कृषि कार्य के लिए सिंचाई के रूप में वर्षा पर निर्भर रहती है। यहां पर सिंचाई के साधन सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं। यहां पर पिछले कई वर्षों में भूमि का जल स्तर काफी कम हो गया है तथा बारिश भी कम मात्रा में होती है, जिससे फसलों की पर्याप्त मात्रा में सिंचाई नहीं हो पा रही है। मध्य प्रदेश की जनजातियां अशिक्षित एवं गरीब होने के कारण आधुनिक सिंचाई के साधनों का कम ही इस्तेमाल कर पाते हैं या कर पाने में असमर्थ हैं। फिर भी सिंचाई के साधनों में तालाब, नाले, कुआँ, नदियाँ एवं विद्युत चलित बोर बैल हैं, जिनके द्वारा सिंचाई की जाती है। मध्य प्रदेश जनजाति अत्यंत गरीब एवं अशिक्षित है जिसके कारण इसे आधुनिक कृषि पद्धति की जानकारी न होने के कारण व इनकी कृषि उपज कम होने के कारण इनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं हो पा रही है।

फसलें

जनजातियों के पास सिंचाई के पर्याप्त साधन न होने के कारण इस समाज के लोग मुख्य रूप से रबी एवं खरीफ की फसलें ही उगाते हैं। रबी की फसल की अक्टूबर महीने के आखिरी सप्ताह से बुआई शुरू हो जाती है जो कि नवम्बर तक चलती है। रबी की फसल में मुख्यतः गेहूँ, अलसी, मसूर, सरसों, चना, जौ आदि मुख्य हैं। ये सभी फसलें अप्रैल महीने में कट जाती हैं।

खरीफ की फसलें जुलाई माह में बोई जाती हैं तथा अक्टूबर, नवम्बर के महीने में काटी जाती हैं। खरीफ की फसल में मुख्य रूप से बाजरा, ज्वार, लठारा, मक्का, कोदों, कुटकी, धान, उड़द, मूंग, रोंसा, अमारी, सन आदि का उत्पादन किया जाता है।

3. मजदूरी

‘मजदूरी’ रोजगार प्राप्त करने का सबसे सस्ता व सरल साधन है। मध्य प्रदेश की अधिकांश जनजातियां अपने आर्थिक जीवन को उन्नत बनाने व अपना जीवन निर्वाह करने के लिए शहरों व गाँव में मजदूरी करते हैं। ये मजदूर आपको खेतों में, इमारतों में, सड़कों पर, कारखानों में, खदानों में, लोगों के घरों में काम करते हुए नजर आ सकते हैं। इसी प्रकार मध्य प्रदेश की कुछ जनजातियां अपना जीवन यापन करने के लिए वनों को छोड़कर शहरों व गाँव में आकर बस गए हैं। गाँव व शहरों में आकर ये लोग खेतों में, कारखानों में, सड़कों पर, घरों में काम (मजदूरी) करके अपना पेट भरते हैं। ये भोले-भाले एवं सरल स्वभाव के होने के कारण इनका शोषण भी अधिक होता है। अशिक्षित होने के कारण ये लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं हैं। जहां आज शहरों एवं नगरों में दैनिक मजदूरी 200 से 300 रुपये प्रतिदिन है वहीं स्थानीय स्तर पर इन्हें 100 से 150 रुपये ही मिलते हैं। जिससे इनकी आर्थिक स्थिति और कमजोर होती जा रही है।

4. कृषि मजदूरी

जनजाति समाज के वे लोग जिनके पास कृषि भूमि नहीं है, वे लोग दूसरों की भूमि पर कृषि कार्य करते हैं। दूसरों की भूमि पर कृषि कार्य करने पर इन्हें मजदूरी प्राप्त होती है।

जिससे ये अपना भरण पोषण करते हैं। ये दूसरे के खेतों में फसल की बुवाई, निराई, गुड़ाई, फसल की कटाई, बंधिया, डलवाई, कुंओं की खुदाई आदि के समय दूसरों के यहां दैनिक मजदूरी करते हैं।

सन्थालों में स्त्री एवं पुरुष दोनों कृषि कार्य में हिस्सा लेते हैं। कृषि करने वाली मुख्य जनजातियां हैं:— बैगा, गौड़, भील, मीना, गरेथिया, मुण्डा, उरावं, खरवार, कोली इत्यादि इनके अलावा भी कई जनजातियां कृषि कार्य करती हैं।¹

5. व्यवसायिक मजदूरी

जनजाति समाज के कुछ सदस्य जो गाँव को छोड़कर शहरों व महानगरों की तरफ आ गए हैं वे शहरों में अपना जीवन यापन करने के लिए कई प्रकार की मजदूरी करते हैं। जिसमें ये लोग हाथ ठेला, साईकिल रिक्शा चालक, दुकानों पर मजदूरी, पत्थर की खदानों में काम करना, क्रेशर मशीनों पर काम करना, सड़कें बनाना, नालियाँ एवं तालाब खोदना, ईंट भट्टों पर काम करना एवं राज्य सरकार की विभिन्न प्रकार की योजनाओं के अर्न्तगत मजदूरी करते हैं। इनसे इनको रोजगार तो मिल जाता है परंतु इनकी आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं हो पाती। ये मजदूरी करके अपना व अपने परिवार का भरण पोषण तो कर लेते हैं पर अपनी आर्थिक स्थिति नहीं सुधार पाते। अशिक्षित होने के कारण ठेकेदार एवं सरकारी कर्मचारी भी इनका शोषण करते हैं और इन्हें कम मजदूरी देते हैं। ये लोग शहरों में आकर अपने मूल स्वरूप को खोते जा रहे हैं।

6. बंधुआ मजदूरी

यह एक ऐसी प्रथा है जिसमें आदमी बंध कर रह जाता है। जनजातियों के बहुसंख्यक परिवार अपने दो जून के खाने की जुगाड़ भी नहीं कर पाते। इस कारण अपने जीवन यापन के लिए उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। बैंक उन्हें कर्ज नहीं देती; होता यह है कि जनजातीय समुदाय के लोगों को अपने गाँव के धनी (सवर्ण) व्यक्तियों के द्वारा ऊँचे ब्याज पर कर्ज लेना पड़ता है। वे कर्ज में ली गयी राशि के ब्याज को भी नहीं चुका पाते, परिणामतः उन्हें बंधुआ मजदूर की तरह काम करना पड़ता है। बंधुआ मजदूर की स्थिति में उन्हें नाम मात्र का वेतन या मजदूरी दी जाती है।¹ जैसे— 1500 रुपये से 2000 रुपये महीना मजदूरी दी जाती है।

7. पशुपालन

प्राचीनकाल से ही पशु मनुष्य का साथी रहा है। उसी प्रकार जनजातियों में भी कई पशुओं को पालने की प्रथा है जो इनके दैनिक कार्यों में मदद करते हैं। इन समाजों में मुख्य रूप से गाय, भैंस, भेड़, बकरी, मुर्गा, मुर्गी, बैल, कुत्ता आदि को पाला जाता है। इनके पशुपालन का आधार अतिरिक्त आय के साथ ही अपने परिवार का भरण-पोषण भी है। यद्यपि ये लोग दूध, घी, मुर्गा, अण्डा एवं मांस आदि की बिक्री भी करते हैं। ये लोग इन वस्तुओं को विक्रय कर आवश्यकता की सस्ती वस्तुयें क्रय कर लेते हैं। इन पशुओं के अलावा कृषि कार्य के लिए बैल एवं भैंसा आदि को भी पालते हैं। इनसे ये लोग खेतों में हल और बैलगाड़ी चलाते हैं। ये लोग कुत्ता, बिल्ली, बतख, कबूतर, तीतर, मोर आदि जीवों को भी पालते हैं तथा इनका मांस और अण्डा अपने स्वयं के उपयोग में लाते हैं। इनके पालतू पशु

अच्छी नस्ल के और कीमती न होकर सस्ते होते हैं जिन्हें खरीदने के लिये कभी-कभी इन्हें किसी अन्य व्यक्ति से कर्ज भी लेना पड़ता है।

8. अन्य उद्योग

मध्य प्रदेश की जनजातियां आज भी कई परम्परागत व्यवसाय अपनायें हुए हैं। कुछ व्यवसाय सामाजिक परिवर्तन के कारण बन्द हो गये हैं, परन्तु कई धंधे आज भी चल रहे हैं। जिनको चलाने के लिए सरकार भी इन्हें प्रोत्साहित कर रही है। राज्य सरकार द्वारा इनको खोलने के लिए प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इनमें से अधिकांश गृह उद्योग वनों से प्राप्त वस्तुओं पर आधारित होते हैं। इन व्यवसायों के अलावा इस क्षेत्र के लोग बांस की डलियाँ, सींके, चटाई, टोकरी, हाथ के पंखे, लकड़ी का सामान बनाना, गुड़ बनाना आदि व्यवसायों को भी करते हैं। कहीं-कहीं महुआ से देशी शराब भी चोरी छिपे बनाते हैं और बेचते हैं।⁶

मध्य प्रदेश की जनजातियां वनों से प्राप्त लकड़ी (बांस) से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाती हैं। इन वस्तुओं में चटाई, डलियां, टोकनी, सूपा, चिमटी, अनाज ढोने व रखने के बर्तन, बच्चों के खिलौने आदि मुख्य हैं। जनजातियों के जीवन में बांस की बनी वस्तुओं का विशेष महत्व है, ये इन वस्तुओं को दैनिक उपयोग में भी लेते हैं तथा हाट बाजारों में जाकर बेच देते हैं। जिससे इनको आमदनी भी हो जाती है।

जनजातियों का वनों के निकट रहने के कारण ये लोग मधुमक्खी पालन भी करते हैं। मध्यप्रदेश के वन क्षेत्र में स्वभाविक रूप से मधुमक्खियां पाई जाती हैं, जिनसे मधुमक्खियों का रस (शहद) प्राप्त करने की कला जनजातियों को आती है। ये लोग मधुमक्खी पालन का व्यवसाय कर उसके रस (शहद) को गाँव के बाजार व हाट में बेचकर पैसे कमाते हैं।

ये के लोग वनों से तेन्दू पत्ता एकत्रित कर उसको सुखाकर बीड़ी बनाने का काम भी करते हैं। ये बीड़ी बनाकर हाट, बाजारों, ठेकेदारों और स्थानीय दुकानदारों को बेचते हैं, जिससे इनकी आमदनी बढ़ती है। इस उद्योग में इनके घरों की स्त्रियां और बच्चें भी साथ देते हैं। बीड़ी को बनाकर ये लोग बड़े उद्योगों में भी सप्लाई कर देते हैं।

9. शासकीय नौकरी

मध्य प्रदेश की जनजातियां शैक्षणिक दृष्टि से अभी भी बहुत पिछड़ी हुई हैं। जिसका मुख्य कारण सीमित आर्थिक साधन और जागरूकता की कमी है। फिर भी वर्तमान में ये लोग अपने बच्चों को शिक्षित करने में प्रयासरत हैं, साथ ही शिक्षा के प्रति जागरूक भी हुए हैं। सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाओं का लाभ लेकर ये लोग शैक्षिक सुविधाओं का लाभ उठाने लगे हैं। जिससे इनके समाज में शिक्षा का स्तर भी बढ़ा है। तथा शिक्षा का लाभ लेकर ये लोग आज सरकारी नौकरियों में भी कार्यरत हैं।

जनजाति समाज की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये इनको शिक्षित करना होगा, इनके क्षेत्रों में यातायात के साधनों का विकास हो, ताकि ये लोग अपनी वस्तुओं को स्थानीय बाजारों में न बेचकर शहरी बाजारों में बेच सकें, जिससे उन्हें उनकी वस्तुओं का सही मूल्य मिल सके। सरकार को वन्य जनजातियों से जुड़े व्यवसायों पर ध्यान देना चाहिए जैसे रेशम

उद्योग, मधुमक्खी पालन, लाख उद्योग, कत्था उद्योग को प्रोत्साहित कर उसमें सरकार को जनजातीय समाज के लोगों को रोजगार के अवसर प्रदान करना चाहिए। जिससे इनकी आर्थिक व सामाजिक उन्नति हो।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. तिवारी प्रदीपमणि "ध्रुव" – "मध्य प्रदेश के आदिवासी एवं रीति-रिवाज", नमन पब्लिकेशन, जयपुर, 2006 पृ.स. 68-69
2. तिवारी प्रदीपमणि "ध्रुव" – "मध्य प्रदेश के आदिवासी एवं रीति-रिवाज", नमन पब्लिकेशन, जयपुर, 2006 पृ.स. 762
3. तिवारी, शिवकुमार शर्मा, श्रीकमल, मध्य प्रदेश की जनजातियाँ (समाज एवं व्यवस्था) मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, पृ.स. 215
4. उपाध्याय, विजय शंकर एवं शर्मा, विजय प्रकाश – भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2009, पृ.स. 30
5. तिवारी, शिवकुमार, शर्मा श्रीकमल, मध्य प्रदेश की जनजातियाँ (समाज एवं व्यवस्था) मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ.स. 201
6. तिवारी, शिवकुमार, शर्मा श्रीकमल, मध्य प्रदेश की जनजातियाँ (समाज एवं व्यवस्था) मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, पृ.स. 217

चित्रकला में नारी चित्रण 'अमृता शेरगिल के संदर्भ में'

डॉ. नीतू सिंह राजपूत*

धरा पर सृष्टि के अनुपम स्वप्न का एक गतिशील चक्र है— नारी। नारी सृष्टि है, सृजन है, शक्ति है, भक्ति है, अनुरक्ति है और युक्ति है। विश्व की साहित्य—निधि का कोई कोष्ठ ऐसा नहीं है, जो नारी की हीरक ज्योति से अलोकित न हो। ऋषियों, मुनियों, मनीषियों, कवियों, साहित्यराध सबने नारी के गौरव का गान अपनी—अपनी मति और मतानुसार किया है। शिल्पियों ने अपनी कठोर छैनी—हथौड़े, से नारी के सौकुमार्य का शिल्पांकन किया है, तो चित्रकारों ने तूलिका से इसके रेखाचित्र में विविध रंग भरे हैं¹।

किसी भी संस्कृति तथा सभ्यता की धुरी 'नारी' है। नारी ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के बल पर उन क्षेत्रों में भी स्थान सुरक्षित किया है जिन क्षेत्रों पर पुरुषों का एकाधिकार था। ये क्षेत्र चाहे देश की सुरक्षा से जुड़ें हो या देश और सविधान निमार्ण से जुड़े हो, नारी कभी भी पीछे नहीं रही हैं। मानव समाज से जुड़ा एक ऐसा ही क्षेत्र "चित्रकला" भी है। चित्रकला एक सशक्त माध्यम है भावों को व्यक्त करने का।² कला शब्द भारतीय संस्कृति में बड़े ही विस्तृत एवमं गूढतम अर्थों में लिया गया है।³ जहाँ सर्वेक्षण करने पर अवीन्द्रनाथ ठाकुर को लेकर समकालीन चित्रकारों तक पुरुष चित्रकारों की एक लम्बी सूची प्राप्त होती है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति नारी शक्ति विषयक दृष्टि से सम्पन्न संस्कृति है जो नारी को वैदिक युग से लेकर आज तक शक्ति की धारित्री के रूप में प्रकाशित करती आयी है। भारत भूमि पर जहाँ समाज को गौरव प्रदान करने वाली पार्वती, दुर्गा, मैत्रेयी, गार्गी, राधा जैसी नारियाँ मिलती हैं। वहीं कला के क्षेत्र को गौरव प्रदान करने वाली 'माणकूसी' 'चित्रलेखा' जैसी नारियाँ भी दिखाई देती हैं।

'माणकूसी' तथा 'चित्रलेखा' ने नारी सृजन शक्ति का कैनवास पर पूरा-पूरा प्रयोग किया। 'चित्रलेखा' को श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्द के बासठवें अध्याय में आशु चित्रकार के रूप में उल्लेखित किया गया है। जिसमें बताया गया है कि उसने ऊषा के स्वप्न दर्शन के आधार पर अनिरुद्ध का चित्रफलक पर बनाया था। इस सनातन परम्परा को आधुनिक युग में विकास देने का कार्य अमृता शेरगिल, जया अप्पास्वामी, देवयानी कृष्ण, वी प्रभा, अनुपम सूद, जरीना, निवेदिता परमानन्द, कमला मित्तल, मधु गुप्ता, शीला ओडन, मनु पारेख, नलिनी मलानी, नैना दलाल जैसी महिला चित्रकारों ने किया तथा इस बात को प्रमाणित किया कि नारी शक्ति का परचम चित्रकारी के क्षेत्र में भी लहरा रहा है।⁴

आज इस बात को आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। कि रविन्द्रनाथ ठाकुर और अमृता शेरगिल से आधुनिक भारतीय कला की शुरुआत हुई।⁵

* 90 श्री विहार कॉलोनी घोसीपुरा स्टेशन, लश्कर, ग्वालियर (म.प्र.)

समकालीन भारतीय कला की एक महत्वपूर्ण दिशा बड़ी संख्या में महिला कलाकारों की उपस्थिति है। शायद ही दुनिया में कहीं इस तरह की सार्थक और सक्रिय उपस्थिति खोजी जा सके। जिस देश की आधुनिक कला अमृता शेरगिल से अपनी शुरुआत मानती हो वहाँ एक स्त्री कलाकार के प्रति विशेष समान आ ही जायेगा।

ऐसे ही चित्रकारों में अर्पिता सिंह, गोगी सरोजपाल, बसुंधरा तिवारी, अपर्णा कौर, ये सभी महिला कलाकार भिन्न मिजाज की हैं। लेकिन समकालीन भारतीय कला परिदृश्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा महिला कलाकारों की अद्भुत कल्पनाशक्ति की देन है।⁹ इस सूची में अपना स्थान सुनिश्चित करने वाली अमृता शेरगिल जैसी महिलाएं गिनती की मिलती हैं⁷ अमृता शेरगिल एक प्रतिभा सम्पन्न नारी कलाकार थी। अमृता के पिता उमराव शेरगिल सिख तथा माता मारिया अंतवानेत गोटेसमन हंगेरियन थी। इनका जन्म बुदापेष्ट में हुआ था। इनकी कालात्मक शिक्षा पेरिस में कला शिक्षक लूसियों साइमों की देख रेख में हुई। यूरोपीय वातावरण का उन पर प्रबल प्रभाव था।⁸ अमृता शेरगिल पहली भारतीय महिला थी जिसने चित्रकला को विश्व स्तर पर प्रसिद्ध करने के साथ-साथ नारी शक्ति का इस क्षेत्र विशेष में सफल प्रदर्शन किया।⁹

1932 में इन्होंने पेरिस के ग्रंथ शैली से अपने एक चित्र "युवातियों" पर सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्राप्त किया। 1934 ई. में भारत लौटने पर शिमला के समीप ही 'अमर हिल' पर अपना स्टूडियो बना लिया। अब अमृता ने समझ लिया था कि उनकी प्रेरणा का स्रोत तो पीत-धूसर धरती वाला वह भारत है, जिसमें श्याम वर्ण, विषादयुक्त चेहरे वाले चलते-फिरते, नर नारी निवास करते हैं।¹⁰ अमृता शेरगिल ने अपनी कला शक्ति का प्रदर्शन न सिर्फ यूरोप में किया बल्कि भारत (बम्बई) तथा पाकिस्तान (लाहौर) में भी किया। चित्रकला के क्षेत्र में अपने तैल माध्यम में बनाये जाने वाले चित्रों में 'टेम्परा' भित्ति चित्रों जैसा प्रभाव उत्पन्न करने की एक नई शैली का पर्दापण किया। आपके इन पाँच चित्रों ने आपको विश्व विख्यात बना दिया। 1. पर्वतीय पुरुष 2. पर्वतीय स्त्रियाँ 3. ब्रह्माचारी 4. वधु का श्रृंगार 5. बाजार जाते हुए दक्षिण भारतीय ग्रामीण।¹¹

1937 में इलाहाबाद की अपनी चित्र प्रदर्शनी के बाद वह पुनः हंगरी चली गयी।¹² जून 1938 में अमृता शेरगिल ने अपने हंगरी रिश्ते के भाई डॉ. विक्टर एगान से विवाह कर लिया। विवाह के बाद अमृता शेरगिल का अधिकांश समय छोटी-छोटी जगहों में बीता। इन्हीं दिनों अमृता ने 'दो लडकियाँ' चित्र भी पेंट किया।¹³ इस दौर के चित्रों में गणेश पूजा, हल्दी पीसती, औसते, चारपाई पर विश्राम करती स्त्री, सिक्ख गायक, हाथी का स्नान उनके कुछ प्रसिद्ध चित्र हैं।¹⁴ द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45) के समय वे श्रीलंका, महाबलीपुरम तथा मथुरा आदि होती हुई शिमला वापस आ गयी। तत्पश्चात् गोरखपुर के निकट सरैया नामक जगह पर मजीठिया परिवार में काफी समय व्यतीत किया और भारतीय स्त्रियों की घरेलू, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया जिसका प्रभाव उनके नारी विषयक चित्रों में मिलता है।¹⁵ आपके उपर्युक्त पाँच चित्रों में से, 'ब्रह्मचारी' शीर्षक चित्र की तुलना बाघ के चर्चित चित्र 'वार्तालाप' से भी की जाती है। वस्तुतः इस महिला चित्रकार ने भारतीय

चित्रकला के क्षेत्र में फैली अस्पष्टता की काई को काटने तथा भारतीय कला को नये मूल प्रदान करने का सशक्त कार्य किया है। यूरोप में अपनी तूलिका की शक्ति के द्वारा पुरस्कृत होने वाली अमृता शेरगिल ने नये चित्रकारों के लिये नये प्रयोग करने की शक्ति प्रदान की है, जो इनके द्वार चित्रकला जगत को दी गई ऐतिहासिक देन है। आप आधुनिक चित्रकला के नीचे के पत्थरों में से एक हैं। आपने अपने समकालीन हेब्रर पर अपनी छाप छोड़ी इसलिए हेब्रर की 'सन्नी साउथ' नामक कृति के भाव अमृता शेरगिल से बहुत कुछ मिलते हैं।¹⁶

अमृता की कला में पूर्व और पश्चिम की शैलियों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ जिसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। उनके उल्लासपूर्ण चित्रों के विषयों पर भारतीय लघु चित्र शैलियों की रंग-योजनाओं की छाप है। उन्होंने भारतीय नारी की समस्याओं के प्रति भी ध्यान आकृषित करने का प्रयत्न किया अपनी कला स्वभाव चरित्र तथा व्यक्तित्व में अमृता को लन्दन निवासी कवि बायरन का भारतीय नारी संस्करण कहा गया है।¹⁷

कला की विशेष कला मर्मज्ञा अमृता शेरगिल ने अनुभव किया कि प्राचीन कांगडा शैली व बसौहली शैली को गॉगिन के निर्दिष्ट मार्ग से आधुनिकीकरण किया जा सकता है। अमृता की चित्रकृतियों में नवीन तकनीक, रेखा की लय, छन्द और रंगों का सामूहिक प्रयोग भूतपूर्व दर्शित होता है। विशेष रूप से उनके द्वारा चुना गया, कला के प्रति नवीन प्रतिक्रिया का मार्ग अत्यन्त स्थूल दृश्यात्मक है जो युवा कलाकारों के लिये सदा प्रेरणा स्रोत बना रहेगा।¹⁸

सितम्बर 1941 में अमृता लाहौर आ गईं। लाहौर में सांस्कृतिक जीवन था। अमृता जिसमें हिस्सा लेती रहीं। यहीं पर उन्होंने अपने अधूरे चित्र (ऑगन के ऊपर से एक दृश्य) पर भी काम करना शुरू किया। 29 वर्ष की आयु में 5 दिसम्बर 1941 को अचानक ही उनका निधन हो गया। दिसम्बर में ही मरणोपरान्त उनकी एक बड़ी प्रदर्शनी लाहौर में आयोजित हुई। अमृता शेरगिल के निधन के बाद उनकी कला को इतना प्रचार मिला और उसका अनुकरण हुआ। अमृता शेरगिल के चित्रों के महत्व को बाद के सभी महत्वपूर्ण चित्रकार अपने अपने ढंग से पहचानते रहे हैं।¹⁹

भारतीय नारी इस स्तर पर पहुँचकर भारतीय कलाविदों को प्रेरणा देती रही है। तभी तो कला की साधना की चरम बिन्दु पर पहुँचने वाली शक्ति एवं साधना के चिन्तन का माध्यम भी नारी को ही माना गया है। भारतीय चित्रकला में आदि काल से आधुनिक काल तक की नारी के चौसठ प्रतिरूपों के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। उनके स्वरूप के सौन्दर्य की अलोकिक आभा भारतीय कला का प्राण ही है।²⁰

संदर्भ :

1. चैतन्य, डॉ. भगवानस्वरूप, लोकमंगल, डॉ. पूनमचन्द्र तिवारी, अमृताभिनन्दन ग्रंथ, प्रकाशक ग्वालियर साहित्य अकादमी (म.प्र.) पृष्ठ 182
2. साहू अविनाश— इंगित, नारी विशेषांक, प्रकाशक—मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013 पृष्ठ—23, 26

3. गुप्त डॉ. दिनेश चन्द्र, भारतीय चित्रकला में नारी अंकन, धर्मा प्रकाशन-355ए/1, सावित्री पार्क मधवापुर, बैरहना, इलाहाबाद-211003, प्रथम संस्करण-2002 पृष्ठ-17
4. साहू अविनाश-'इंगित' नारी विशेषांक, प्रकाशक-मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013-पृष्ठ 23
5. भारद्वाज विनोद-कला चित्रकला, प्रवीण प्रकाशन, महारौली, नई दिल्ली, संस्करण, 2006 पृष्ठ-13
6. भारद्वाज विनोद-कला चित्रकला, प्रवीण प्रकाशन, महारौली, नई दिल्ली, संस्करण, 2006 पृष्ठ-16
7. साहू अविनाश-'इंगित' नारी विशेषांक, प्रकाशक-मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013 पृष्ठ-23
8. अग्रवाल डॉ गिरिज किशोर- कला और कलम, अशोक प्रकाशन मंदिर, साकेत कॉलोनी, अलीगढ़, संस्करण 1989, 90, पृष्ठ क्र. 270
9. साहू अविनाश-नारी विशेषांक, प्रकाशक-मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013 पृष्ठ-23
10. अग्रवाल आर.ए-कला विलास, भारतीय चित्रकला का विकास प्रकाशक, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस मेरठ, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1979, द्वितीय संस्करण, 1984, पृष्ठ-189
11. नारी विशेषांक, प्रकाशक-मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013 पृष्ठ-23
12. अग्रवाल आर.ए.- कला विलास, भारतीय चित्रकला का विकास प्रकाशक, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस मेरठ, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1979, द्वितीय संस्करण, 1984 पृष्ठ-190
13. अग्रवाल आर.ए-कला विलास, भारतीय चित्रकला का विकास प्रकाशक, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस मेरठ, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1979, द्वितीय संस्करण, 1984 पृष्ठ-54
14. अग्रवाल आर.ए-कला विलास, भारतीय चित्रकला का विकास, प्रकाशक, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस मेरठ, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1979, द्वितीय संस्करण, 1984 पृष्ठ-190
15. अग्रवाल आर.ए- कला कलम, भारतीय चित्रकला का विकास प्रकाशक, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस मेरठ, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1979, द्वितीय संस्करण, 1984 पृष्ठ-270
16. साहू अविनाश- नारी विशेषांक, प्रकाशक-मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा, ग्वालियर 2013 पृष्ठ-24
17. अग्रवाल डॉ गिरिज किशोर- कला और कलम, अशोक प्रकाशन मंदिर, साकेत कॉलोनी, अलीगढ़, संस्करण 1989, 90, पृष्ठ-271
18. वर्मा प्रो. ठाकुर प्रसाद- लोकायतनम्, कला लोककला, परम्परा एवं संस्कृति पर 153 लेखों का संग्रह अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, रत्ना ऑफसेट्स, लिमिटेड, कमच्छा वाराणसी संस्करण 2012, पृष्ठ-89
19. भारद्वाज विनोद-कला चित्रकला, प्रवीण प्रकाशन, महारौली, नई दिल्ली, संस्करण, 2006 पृष्ठ- 54, 55
20. गुप्त डॉ. दिनेश चन्द्र, भारतीय चित्रकला में नारी अंकन, धर्मा प्रकाशन-355ए/1, सावित्री पार्क मधवापुर, बैरहना, इलाहाबाद-211003, प्रथम संस्करण-2002 पृष्ठ-22

बुन्देली लोक चित्रकला का स्वरूप

डॉ. नीना खरे*

भूमिका

मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा और मकान कही जाती हैं। परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति ही एक मात्र मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है मानव जीवन क्रियाशील जीवन है। मनुष्य की अनुभूति, रूचियाँ, उसके बनाये हुये संस्कार उसे जीवन को सौन्दर्यात्मक ढंग से जीने के लिये प्रेरित करते हैं और यही प्रेरणा उसके कार्यों को कलात्मक बनाती है। यही कलात्मक कार्य जिन्हें मनुष्य अपने समुदाय के साथ मिलकर करता है। लोक कला के अंतर्गत आते हैं। सामुदायिक होने के कारण लोक कला प्रायः अपरिवर्तनीय होती है परम्परागत रूप से चली आती हुई एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

सिद्धान्त कौमुदी में लोक शब्द संस्कृत के लोक दर्शन धातु के धञ प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ माना गया है। इस धातु का अर्थ है देखना तथा इसका एक अन्य पुरुष एक वचन होगा 'लोकते'। इस प्रकार यह प्रगट है कि 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला, अतः वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक शब्द की व्यापक व्याख्या करते हुये कहा है कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है। जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं।

एस.के. सरस्वती के मतानुसार लोककला जन समुदाय के सामाजिक जीवन में व्यवहृत सहकारी कला है। इसकी जड़े धरती में काफी गहराई तक गई है यह लोक में प्रचलित रीति रिवाजों और विश्वासों से सम्बन्धित है।

जिस प्रकार मनुष्य का विकास सभी क्षेत्रों में समान रूप से होता है वैसे ही लोककला का विकास भी परम्परागत ढंग से सभी क्षेत्रों में समान रूप से होता है। लोक कला के आधारभूत तत्व सभी क्षेत्रों में समान होते हैं परन्तु क्षेत्र विशेष की संस्कृति सामाजिक जीवन, प्राकृतिक सम्पदा, तथा ऐतिहासिक घटनायें उसकी कला को अन्य क्षेत्रों की कला से भिन्न करती हैं।

बुन्देलखण्डी लोक चित्रकला का स्वरूप

बुन्देलखण्ड सांस्कृतिक रूप से अत्यंत क्षेत्र है रेल व्यवस्था से अधिक जुड़े न होने के कारण क्रम अपेक्षाकृत धीमा है। अतः लोक संस्कृति की पारम्परिक सुगंध अभी अपने मौलिक एवं शुद्ध रूप में शेष है। बुन्देलखण्ड में संस्कृति और पारम्परिकता की जड़े बहुत गहरी हैं। यहाँ की संस्कृति का अपना इतिहास है। प्रागैतिहासिक मानव ने इस क्षेत्र में भी अपने जीवन के कलात्मक पक्ष के उदाहरण छोड़े हैं।

* अतिथि विद्वान, विजया राजे शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुरार, ग्वालियर

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की प्रागैतिहासिक चित्रकला का प्रभाव पूर्णतः वर्तमान लोक चित्रकला पर दिखाई देता है। वर्तमान बुन्देली लोक चित्रकला पूर्णतः धर्म पर आधारित है और उसी आधार पर सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक लोक चित्रकलाओं का विकास हुआ है।

प्रागैतिहासिक शिला चित्रों से प्रभावित लोक चित्रण को वैदिक काल में ठोस आधार भूमि मिली और पैराणिक काल से उसका महत्व बढ़ा और तब से उसका वह पारम्परिक स्वरूप आज बुन्देली संस्कृति में दिखाई देता है।

बुन्देली लोक चित्रकला मुख्यतः तीन रूपों में दिखाई देती है। धार्मिक लोक चित्रकला, सांस्कृतिक लोक चित्रकला एवं व्यवसायिक लोक चित्रकला।

धार्मिक क्रियाओं में उपास्य देवता की प्रतीकात्मक संरचना प्रचलित कथाओं आदि का चित्रण पर्वों पर किया जाता है। इसके साथ साथ धार्मिक पर्वों पर गृह आंगन अलंकरण हेतु भी चित्रण कार्य किया जाता है। पूजा उपासना आदि में प्रयोग की जाने वाली सामग्री भी कभी कभी चित्रित की जाती है। ये चित्रण प्रायः प्रतीकात्मक और अपरिवर्तनीय होते हैं।

सांस्कृतिक लोक चित्रकला जो आंशिक रूप से धार्मिक लोक चित्रकला से जुड़ी होती है पर चित्रण किया जाता है। पारिवारिक सांस्कृतिक उत्सवों, सामाजिक सांस्कृतिक उत्सवों आदि पर विभिन्न प्रकार के सजावट सम्बन्धी चित्रण इसके अन्तर्गत आते हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक दोनों प्रकार की लोक चित्रकला प्रायः घर के सदस्यों विशेष रूप से महिलाओं द्वारा ही निर्मित होती है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक चित्रण पद्धति प्रायः एक ही है। परन्तु चित्रण उद्देश्य भिन्न है।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक चित्रण प्रायः भित्तियों, भूमि, उपयोगी वस्तुओं वस्त्रों पशुओं आदि पर दिखाई देता है। और इनमें चित्रण सामग्री भी घरेलू ही होती है।

प्रकृति ने बुन्देली लोक जीवन को अधिक प्रभावित किया है सांस्कृतिक एवं धार्मिक पर्वों, उत्सवों पर प्रकृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकृति के परिवर्तनों और प्रभावों के आधार पर ही पर्वों—उत्सवों का आगमन होता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्राकृतिक सम्पदा के अद्वितीय भण्डार है अतः लोक चित्रकला पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभिक ही है। प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर पर्वों का आगमन प्रकृति की देन के आधार पर चित्रण विषय एवं चित्रण सामग्री का प्रयोग आदि धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक चित्रकला को प्रभावित करते हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक चित्रकला के साथ साथ बुन्देलखण्ड में लोक चित्रकला का व्यवसायिक स्वरूप भी दिखाई देता है। व्यवसायिक चित्रकला को हम उपयोगी चित्रकला भी कह सकते हैं।

प्रत्येक कला में उपयोगिता होती है परन्तु किसी भी उपयोगिता की अधिकता होती है वहाँ सत्य और सुन्दर गौण रूप धारण करते हैं। इस कला द्वारा आवश्यकता की पूर्ति अधिक होती है।

व्यवसायिक लोक चित्रकला जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण के सम्बन्धित होती है तथा आय का माध्यम होती है। इन वस्तुओं का महत्व कलात्मक दृष्टि की अपेक्षा उपयोगिता

की दृष्टि से अधिक होता है परन्तु सौन्दर्य प्रदान करने के लिये उसे कलात्मक बनाया जाता है। ताकि उसमें आकर्षण उत्पन्न हो तथा उसके द्वारा आय में वृद्धि हो। बुन्देलखण्डी व्यवसायिक लोक चित्रकला में भिन्न भिन्न व्यवसायियों की भिन्न भिन्न कलायें हैं। जैसे कुम्हारों की कला में मिट्टी के पात्रों व खिलौनों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करके उन पर चित्रण किया जाता है। ये वस्तुयें दैनिक उपयोग में व उत्सवों आदि में काम आती हैं। व्यवसायिक रूप से चित्रकला का कार्य करने वालों को यहाँ चितेरे कहा जाता है। मध्यकालीन राजाओं महाराजाओं के संरक्षण में जीवन यापन करने वाले राज कलाकरों के इन वंशजों ने अपने पूर्वजों की कला को व्यवसाय बनाया। ये चितेरे उत्सव सम्बन्धी सामग्रियों पर चित्रण, अक्तीज की गुड़ियों व अन्य खिलौनों पर चित्रण, छपाई तथा घर घर जाकर उत्सवों पर चित्रण कार्य करते हैं। बंसोर बॉस की वस्तुओं को बनाने वालों को कहा जाता है। सूपा, पंखा, उलिया टिपारा आदि का निर्माण बंसोर करते हैं। इन वस्तुओं में आकर्षण लाने के लिये इन पर चित्रण करते हैं। मनुष्य के सौन्दर्य प्रेम के कारण चित्रकला को व्यवसायिक रूप मिला है।

निष्कर्ष

बुन्देलखण्ड में लोक चित्रकला के तीनों रूप आज भी विद्यमान हैं परन्तु आधुनिकता के प्रभाव, समय के अभाव व रुचियों में कमी के कारण लोक चित्रण पद्धति की ओर जनमानस का झुकाव कम दिखाई देता है। सर्वेक्षण के दौरान कुछ उदाहरण साक्षात् प्राप्त हुये कुछ बुजुर्गों की जबानी ज्ञात हुये तथा कुछ ग्रंथों आदि के माध्यम से जानकारी में आये।

बुन्देलखण्डी लोक चित्रकला का स्वरूप अत्यंत सौम्य है, इसका प्रमुख कारण है कि यह जटिल नियमों एवं जटिल अनुभूति की अभिव्यक्ति से मुक्त होती है लोक चित्रकला में विशेषीकरण नहीं होता। लोक चितेरे स्वयं के प्रयास एवं क्षमता के अनुरूप चित्रण करते हैं। उन्हें विधिवत् प्रशिक्षण नहीं दिया जाता उनकी कला की मौलिकता बनी रहती है। चित्रण सामग्री का उपयोग नगण्य ही होता है। रंग निर्माण, धरातल निर्माण व चित्रण में लोक चित्रकार की अपनी कुशलता होती है। बुन्देली लोक चित्रकला का विकासक्रम तथा स्वरूप स्पष्ट एवं सहज है। धार्मिक, सांस्कृतिक एवं व्यवसायिक रूप से लोक चित्रकला का प्राचीन स्वरूप आज भी विद्यमान है जो बुन्देली संस्कृति के रंगीन स्वरूप को प्रगट करता है। परम्परागत मूल्यों, विचारों एवं कलात्मक तत्वों को संरक्षित करता है तथा ऐतिहासिक उपलब्धियों से अवगत कराता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. सकृत्यायन राहुल हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास (भाग16)
2. डॉ. रोहतगी सरोजनी अवधि का लोक साहित्य
3. झा. चिंरजी लाल कला के दार्शनिक तत्व
4. शर्मा डॉ. हरद्वारी लाल कला दर्शन

उत्तराखण्ड राज्य की अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योगों का महत्व एवं ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य

डॉ. जी. सी. बेंजवाल* एवं डा. सिराज अहमद**

विश्व इतिहास में सोने की चिड़ियाँ कहलाने वाला भारत कृषि के साथ-साथ कुटीर तथा ग्रामीण उद्योगों में उत्कृष्ट कोटि का था। वास्तव में यह विकास की प्रारम्भिक स्थिति थी। ठीक यही स्थिति पर्वतीय क्षेत्रों की है, जहाँ कृषि के साथ कुटीर उद्योगों का महत्व आर्थिक विकास में अधिक है। मौसमी बेरोजगारी, अदृश्य बेरोजगारी तथा अनैच्छिक बेरोजगारी दूर करने के साधन के रूप में पर्वतीय क्षेत्रों में कुटीर तथा ग्रामीण उद्योग आदिकाल से रहे हैं और इनकी प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ाने में उपादेयता बढ़ती जा रही है। योजना आयोग द्वारा पर्वतीय क्षेत्र को उद्योग शून्य घोषित किया जा चुका है। ऐसी दशा में इस पर्वतीय अंचल का विकास मात्र खादी ग्रामोद्योग तथा लघु स्तरीय उद्योगों पर निर्भर है।

‘खादी और ग्रामोद्योग आयोग’, संसद के ‘खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग अधिनियम 1956’ के तहत भारत सरकार द्वारा निर्मित एक वैधानिक निकाय है। यह भारत में खादी और ग्रामोद्योग से संबंधित सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योग मंत्रालय (भारत सरकार) के अन्दर आने वाली एक शीर्ष संस्था है। जिसका मुख्य उद्देश्य है— “ग्रामीण क्षेत्रों में खादी एवं ग्रामोद्योगों की स्थापना और विकास करने के लिए योजना बनाना, प्रचार करना, सुविधाएं और सहायता प्रदान करना, जिसमें वह आवश्यकतानुसार ग्रामीण विकास के क्षेत्र में कार्यरत अन्य एजेंसियों की सहायता भी ले सकती हैं।” अप्रैल 1957 में, पूर्व के अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामीण उद्योग बोर्ड का पूरा कार्यभार इसने संभाल लिया।

खादी और ग्रामोद्योग, दोनों में ही अत्यधिक श्रम (श्रमिकों) की आवश्यकता होती है। औद्योगीकरण के मद्देनजर और लगभग सभी प्रक्रियाओं का मशीनीकरण होने क्षेत्र कारण भारत जैसे श्रम अधिशेष देश के लिए खादी और ग्रामोद्योग की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है।

खादी और ग्रामीण उद्योग का एक अन्य लाभ यह भी है कि इन्हें स्थापित करने के लिए पूंजी की आवश्यकता नहीं (या बिल्कुल कम) के बराबर होती है, जो इन्हें ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों के लिए एक आर्थिक रूप से व्यवहार्य विकल्प बनाता है। कम आय एवं क्षेत्रीय और ग्रामीण/नगरीय असमानताओं के मद्देनजर भारत के सन्दर्भ में इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है। खासतौर पर उत्तराखण्ड जैसे निर्धन और अर्द्धविकसित राज्य के लिए इसकी महत्ता और अधिक है।

आयोग के प्रमुख उद्देश्य

आयोग के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं जो इसके कार्यों को निर्देशित करते हैं। ये इस प्रकार हैं—

* एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, राजकीय महाविद्यालय कर्णप्रयाग, चमोली

**असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, राजकीय महाविद्यालय कर्णप्रयाग, चमोली

सामाजिक उद्देश्य— ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध कराना ।

आर्थिक उद्देश्य— बेचने योग्य सामग्री प्रदान करना ।

व्यापक उद्देश्य— लोगों को आत्म निर्भर बनाना और एक सुदृढ ग्रामीण सामाजिक भावना का निर्माण करना ।

इस प्रकार उपरोक्त उद्देश्य उत्तराखण्ड राज्य के लिए विशेष रूप से हितकर हैं क्योंकि इस राज्य की दुर्गम परिस्थितियों, उद्योगों एवं व्यापार कार्यों की कमी के मद्देनजर खादी ग्रामोद्योगों का विशेष महत्व है ।

खादी एवं ग्रामोद्योगों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि व स्थिति

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुटीर तथा ग्रामीण उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं का भारत विदेशी व्यापार करता था । ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय ग्रामीण उद्योगों का ह्रास इतना अधिक हुआ कि उस गर्त से निकलने से पूर्व भारतीय योजनाओं में भारी औद्योगीकरण को सर्वोत्तम प्राथमिकता दी गई । सामुदायिक योजना (1952) के अन्तर्गत जो भी प्रयास किये गये वे समुचित नहीं कहे जा सकते हैं । खादी ग्रामोद्योगों का विकास कार्य अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड को सौंपा गया ।

भारतीय पुनर्निर्माण कार्यों के अन्तर्गत खादी एवं ग्रामोद्योगों का वास्तविक विकास का प्रारम्भ गांधी जी के 'चर्खा' तथा 'स्वदेशी आन्दोलन' से हुआ है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 1956 तक इस आन्दोलन को चलाने वाली संस्था का नाम 'अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड' था । तत्पश्चात वर्ष 1956 की औद्योगिक नीति के 61 वे अनुच्छेद के अन्तर्गत 1957 में इसे विधिवत 'अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग' घोषित किया गया । राज्य स्तर पर खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना की गई ।

अविभाजित उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में खादी एवं ग्रामोद्योगों का विकास कार्य मूलतः उ०प्र० के उद्योग विभाग द्वारा किया गया । पर्वतीय क्षेत्र में विकास कार्य का प्रारम्भ राजकीय स्तर पर पर्वतीय ऊनयोजना से प्रारम्भ हुआ, किन्तु राजकीय व्यवस्था से पूर्व इस पर्वतीय अंचल में ऊन उद्योग का कार्य ऊनकर्ताई—बुनाई के रूप में प्रत्येक परिवार में किया जाता था । स्थानीय भेड़ पालन कार्य उत्तरकाशी, टिहरी, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, चमोली तथा गढ़वाल में अधिकतर परिवारों द्वारा किया जाता था और ऊनी वस्त्र उत्पादन भेड़ पालक परिवारों के अतिरिक्त अन्य परिवारों द्वारा भी कुटीर उद्योग के रूप में किया जाता था । गांधी जी के "चर्खा आन्दोलन" की हवा हिमालय की इन कन्दराओं तक पहुँची । बागेश्वर के "चर्खा आन्दोलन" का योगदान पर्वतीय क्षेत्र के ऊनी वस्त्र निर्माण के इतिहास में अमर रहेगा । यही बागेश्वरी चर्खा आन्दोलन गाँधी आश्रम सोमेश्वर में भी चलाया गया । यह ऊन कर्ताई बागेश्वरी चर्खा आज भी कहीं—कहीं ऊनी वस्त्र निर्माणकर्ताओं, कतिनों तथा बुनकरों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है ।

अंग्रेजी शासनकाल में तिब्बत को भारत और चीन के बीच 'बफरस्टेट' की मान्यता दी गयी और 'भारतीय पोलिटिकल एजेन्ट' के माध्यम से उत्तरकाशी के नीलंग, चमोली स्थित

माणा तथा नीति (होती) तथा पिथौरागढ़ के उंताधुरा, लुनपियालेक, लिपुलेख दरों से तिब्बती ऊन तथा भेड़ों का व्यापार होता था ।

तिब्बती ऊन की बिक्री दरों का निर्णय जनपद की एक समिति द्वारा किया जाता था । समिति के सदस्यों में जिलाधिकारी, डिविजनल सुपरिन्टेन्डेन्ट (पर्वतीय ऊन योजना), स्थानीय पोलिटिकल एजेन्ट (भारत सरकार) होता था । ऊन की विक्रय दरों का निर्धारण उत्तरकाशी के हरसिल, चमोली के गौचर तथा पिथौरागढ़ के जौलजीवी स्थानों पर ऊन तथा ऊनी वस्त्रों के मेले लगा कर किया जाता था । इन्हे निर्धारित बिक्री दरों पर उत्तरकाशी के जाड़, चमोली व पिथौरागढ़ के भोटिया जनजाति के व्यापारियों द्वारा पानीपत, सोनीपत, अम्बाला तथा ऊनी टेक्सटाईल मिलों के प्रतिनिधियों को ऊन तथा थुल्मा, गुदमा, चुटका, कारपेट आदि वस्त्र बेचे जाते थे । ग्रामीण क्षेत्रों में भोटिया बन्धुओं द्वारा कच्ची ऊन, भेड़े, ऊनी वस्त्र आदि अनाज लेकर वस्तु विनिमय (वार्टर सिस्टम) से बेचे जाते थे । भोटिया परिवारों के पूर्णकालिक रोजगार का साधन ऊनी वस्त्र निर्माण व तिब्बती ऊन विक्रय, नमक, सोना आदि था ।

ऊनी वस्त्र के अतिरिक्त पर्वतीय क्षेत्र के ग्राम समूहों में लकड़ी के कारीगर (बढ़ई), रिंगाल के बर्तन बनाने वाले कारीगर (रूड़िया), पानी के खैरात पर परोठा, परिया, ठेकी, पथला आदि बनाने वाले कारीगर (चुनेर), कच्चे चमड़े का जूता बनाने वाले कारीगर (चमार), तेल निकालने वाले कारीगर (तेली), मिटटी के बर्तन बनाने वाले (कुम्हार), हाथ तथा मशीन से कपड़ों की सिलाई करने वाले कारीगर(दर्जी) आदि ग्रामीण उद्योगों में पूर्णकालिक तथा मौसमी रोजगार से जीविका कमाते थे । इन कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त वनों से उपलब्ध घास के रेशों, भीमल, भांग, जंगली कन्डाली के रेशों से दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक परिवार का कोई न कोई सदस्य झाड़ू, रस्सी आदि वस्तुएं बनाया करते थे ।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट होता है कि पर्वतीय क्षेत्र का ग्रामीण परिवार किसी न किसी उद्योग का कार्य करके मौसमी बेरोजगारी के समय अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति स्वयं करता था । ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण उद्योगों को पारम्परिक रूप में अपनाया गया था, जिसे ग्रामीणों द्वारा अपने ही घर पर किया जाता था । इस प्रकार पर्वतीय क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में गांधी जी के ग्रामीण स्वावलम्बन का सिद्धान्त शत प्रतिशत लागू होता था । यह स्थिति पर्वतीय क्षेत्र के तत्कालीन छः जनपदों में 1950 तक बनी रही, क्योंकि उस समय तक पर्वतीय अंचल में यातायात के साधन सड़कों के अभाव में घोड़े, खच्चर, बकरी, भेड़ तथा याक आदि थे । ग्रामीण क्षेत्रों में पीठ या सिर पर लादकर वस्तु विनिमय या व्यापार होता था । वाह्य बाजारों से अधिक सम्पर्क न हो पाने के कारण बड़े तथा मध्यमवर्गीय उद्योग की वस्तुएं सीमित थी । ग्रामीण स्वावलम्बन व औद्योगिक वस्तु उत्पादन की दृष्टि से ग्रामीण अधिक सम्पन्न थे । घर-घर में कृषि के साथ पशुपालन तथा आवश्यक वस्तु उत्पादन कार्य चलता था ।

उद्योग विभाग द्वारा संचालित पर्वतीय ऊन योजना के अतिरिक्त अन्य उद्योगों के प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना प्रारम्भ की गई, जो टी0 सी0 योजना के नाम से थी । प्रारम्भ में पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, बागेश्वर, धारचूला, माणा (गोपेश्वर), नीति (भीमतला), दुगड़डा (पौड़ी)

प्रशिक्षण केन्द्र ऊन योजना के अन्तर्गत स्थापित किये गये। जिला उद्योग कार्यालयों को समस्त ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित करने हेतु ऋण वितरण, अनुदान, रिबेट देने, तकनीकी मार्ग दर्शन देने, ब्रिकी प्रबन्ध व्यवस्था करने तथा प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करने का कार्य सौंपा गया। ग्रामीण व्यक्तिगत इकाईयों तथा सहकारी समितियों की स्थापना करने का कार्य द्वितीय योजना काल से जिला उद्योग अधिकारी के अधीन कर दिया गया। इन ग्रामीण उद्योगों में ग्रामीण क्षेत्र की ऊन कताई-बुनाई इकाईयां तथा ऊनी वस्त्र निर्माण सहकारी समितियां भी सम्मिलित थीं। पर्वतीय ऊन विकास योजना के अन्तर्गत उत्पादन तथा प्रशिक्षण केन्द्र व ऊन कताई केन्द्र, ऊन भण्डार, ऊनी वस्त्र फिनिशिंग प्लान्ट, नमदा निर्माण, ऊनी वस्त्र बिक्री भण्डार आदि कार्य सीमित रखे गये।

चीन के आक्रमण से पूर्व 24 फरवरी, 1960 को तत्कालीन उत्तराखण्ड डिवीजन की स्थापना की गई, जिसमें नव स्थापित जनपदों उत्तरकाशी, चमोली, तथा पिथौरागढ़ को सम्मिलित किया गया। इन जनपदों में कार्यरत ऊन योजनाओं तथा अन्य औद्योगिक कार्यक्रमों को नवस्थापित जिला उद्योग अधिकारियों को सौंपा गया और उत्तराखण्ड में उद्योगों को विकसित करने तथा प्रसार कार्य के लिए एक सहायक निदेशक कार्यालय भीमतला (चमोली) में स्थापित किया गया। उत्तराखण्ड डिवीजन के तीनों जनपदों में नमदा निर्माण, कार्डिंग प्लान्ट, चल चर्खा, भारत-तिब्बत सीमान्त ऊन योजना, ऊन उपभोग केन्द्र, सचल रंगाई केन्द्र, कच्चा माल डिपों आदि नई ऊनी-खादी वस्त्र निर्माण योजनाएं प्रारम्भ की गईं। पर्वतीय ऊन योजना के प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्रों तथा कताई केन्द्रों को भी तीनों जनपदों में जिला उद्योग अधिकारियों को हस्तान्तरित किया गया।

1962 के पश्चात् खादी ग्रामोद्योग का विकास

उत्तराखण्ड डिवीजन बनने के पश्चात् ऊनी खादी वस्त्र उत्पादन में बिक्री व्यवस्था, कार्डिंग सुविधा, रंगाई सुविधा, कच्चे माल की सुविधा, फिनिशिंग सुविधा के फलस्वरूप व्यक्तिगत इकाईयों, बुनकरों तथा सहकारी समितियों द्वारा 1962 तक प्रगतिशील कार्य किया गया। ऊनी, खादी के प्रचार व प्रसार कार्य के फलस्वरूप वस्त्र बिक्री निरन्तर लाभकारी तथा रोजगार वर्द्धक रही। दुर्भाग्यसे चीन के आक्रमण (1962) के पश्चात् ऊनी खादी उद्योग को पूरे पर्वतीय क्षेत्र में भारी झटका लगा। इसका प्रमुख कारण तिब्बती ऊनी व्यापार पर अति निर्भरता थी। उत्तराखण्ड डिवीजन के सभी भारत-तिब्बत व्यापारिक दर्रे बन्द हो गये, जो अब तक बन्द है। फलस्वरूप ऊनी खादी वस्त्र निर्माण की राजकीय योजनाओं, व्यक्तिगत उत्पादकों, कतिनों तथा बिक्री व्यवस्था कार्य शिथिल पड़ने के साथ इस उद्योग का ह्रास प्रारम्भ हुआ। गौचर, हर्षिल तथा जौलजीवी ऊनी वस्त्र तथा कच्चे मालों के मेलों में ऊन विक्रय बन्द हो गया। इसके विपरीत ब्रिटिश कार्पोरेशन, पानीपत, सोनीपत, अम्बाला से कच्ची ऊन तथा तैयार धागा क्रय करके शॉल, गलीचा, पंखी आदि उत्पादन तक सीमित हो गये। व्यक्तिगत ऊनी वस्त्र इकाईयों का कार्य ग्रामीण भेड़ पालको की ऊन आपूर्ति पर निर्भर रहने लगी। स्थानीय भेड़ पालको को भी चरागाह व बुग्यालों की कमी होने लगी और परिणामतः शनैः शनैः ऊनी खादी उद्योग अन्तिम सांस ले रहा है, जो अब भेड़ पालक परिवारों तक सिमट गया है।

पर्वतीय क्षेत्र में ह्रासमान गति लाने में तत्कालीन उ0प्र0 खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड भी उत्तरदायी माना जा सकता है। वर्ष 1966-67 में पर्वतीय ऊन योजनाओं को बोर्ड को हस्तान्तरित किया गया। इस हस्तान्तरण में ऊन सुविधा केन्द्रों तथा चल चर्खा योजना, शॉल, गलीचा, काष्ठकला, पापड़ी काष्ठकला, कृषि यंत्र निर्माण, सचल रंगाई केन्द्रों, सिलार्ड हौजरी केन्द्रों, चर्म शोध व जूता निर्माण, रिंगाल उपयोग, बिक्री केन्द्रों आदि राजकीय योजनाओं को बोर्ड द्वारा अस्वीकार किया गया। मात्र पर्वतीय ऊन तथा भारत-तिब्बत सीमान्त ऊन योजनाओं के प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्रों तथा सम्बद्ध कताई केन्द्रों को ही बोर्ड द्वारा अंगीकृत किया गया। फलस्वरूप ऊनी उद्योग विकास का कार्य अधर में लटक गया। इस उद्योग को विकसित करने तथा ग्रामीण अंचलों के कतिनों तथा बुनकरों तक पहुँचाने में बोर्ड असमर्थ रहा। दूसरी ओर जिला उद्योग अधिकारियों के अधीन चल रहे ऊनी वस्त्र निर्माण केन्द्रों तथा अन्य ग्रामीण उद्योग प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्रों का कार्य शिथिल तथा सांस की बीमारी से पीड़ित है। इसका मूल कारण उद्योग विभाग तथा पर्वतीय विकास विभाग की अकर्मण्यता, उपयुक्त नीति की कमी तथा जिला उद्योग प्रबन्धकों की उदासीनता ने अपना कार्य ऋण अनुदानों की फाइलों तक सीमित रखा है।

समस्यायें, उभरते प्रश्न तथा सुझाव

उपर्युक्त विवरणों तथा विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि पर्वतीय क्षेत्र में विभिन्न संस्थायें खादी एवं ग्रामोद्योगों के कार्यक्रमों को प्रत्यक्ष रूप से वित्तीय सहायता देकर, उत्पादन कार्य करके रोजगार बढ़ाने का प्रयास कर रही है। इनमें प्रमुखतः जिला उद्योग केन्द्र, खादी ग्रामोद्योग बोर्ड, अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग तथा एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम हैं। कुछ समस्यागत प्रश्नों पर विचार करके सुझाव देने आवश्यक हो जाते हैं। अतः कतिपय प्रश्नों तथा समस्याओं पर गहन विचार विमर्श करना नितान्त आवश्यक है।

1. पूर्व में उत्तर प्रदेश खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड तथा वर्तमान में उत्तराखण्ड खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड समस्त ग्रामीण उद्योगों को अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग के पैटर्न पर पर्वतीय क्षेत्रों में संचालित कर रहा है। आयोग के पैटर्न के अनुसार व्यक्तिगत कारीगर की अपेक्षा सहकारी संस्थाओं को ऋण, मार्जिन मनी, अनुदान, रिबेट, बिक्री व्यवस्था, तकनीकी मार्गदर्शन तथा प्रबन्धकीय सहायता का लाभ मिल रहा है, किन्तु व्यक्तिगत कारीगरकों ये लाभ प्राप्त नहीं होते हैं।

पर्वतीय क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति तथा यातायात की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक जान पड़ता है कि व्यक्तिगत कारीगर को कुटीर उद्योग की परिभाषा के अनुसार समस्त प्रकार की सहायता उपलब्ध करानी आवश्यक है। अतः इस पर्वतीय क्षेत्र के परिपेक्ष्य में खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग को अपना पुराना पैटर्न बदलना चाहिए।

2. विकास निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है, किन्तु इसमें यह देखना है कि किसी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में संसाधनों की स्थिति के अनुरूप विकास प्रक्रिया अपनायी गयी अथवा नहीं। दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र की विकास योजनाओं में

ग्रामीण उद्योगों की स्वरोजगार सृजन क्षमता को स्वीकार नहीं किया गया। फलस्वरूप यह क्षेत्र 'बेरोजगारों की सेना का भण्डार' बन चुका है, जिस ओर इस क्षेत्र के नियोजकों, अधिकारियों तथा शिक्षित वर्ग का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि स्थानीय कच्चे मालों की उपलब्धि, बाजार व्यवस्था, कौशल उपलब्धि, प्रशिक्षण व्यवस्था तथा आर्थिक सर्वेक्षण नितान्त आवश्यक है, जिसके लिए तुरन्त राज्य खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड द्वारा समस्त जनपदों में क्षेत्रीय शोध संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों द्वारा अध्ययन तथा सर्वेक्षण कराया जाना चाहिए।

3. सर्वेक्षण के आधार पर खादी तथा ग्रामोद्योगों की स्थापना, स्थानीय कच्चे मालों की उपलब्धि को ध्यान में रखते हुए दीर्घकालीन योजना बनाकर की जानी चाहिए। अब तक पर्वतीय क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना निराधार तथा तदर्थ रूप से की जा रही है। परिणामस्वरूप जीवित उद्योगों का भविष्य अवैज्ञानिक व दिशाहीन है और दीर्घकालीन व पूर्णकालिक स्वरोजगार सृजन करने में असमर्थ है। अतः ग्रामीण उद्योगों की स्थापना भी कुशल श्रमिक उपलब्धि, कच्चेमाल की निरन्तर उपलब्धि, मुद्रा की उचित तथा यथा समय सहायता, बाजार की मांग तथा प्रशिक्षित उद्यमी की स्वेच्छा को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए अन्यथा बीमार तथा बन्द इकाईयों की संख्या बढ़ती जायेगी, जिसकी प्रवृत्ति बढ़ती हुई दृष्टिगोचर प्रतीत हो रही है।

4. पर्वतीय क्षेत्र में यह एक तथ्य है कि पुराने परम्परागत उद्योगों को कारीगरों द्वारा त्याग ने की प्रवृत्ति आयी है। उदाहरणार्थ लोहारगिरी, रिगांल के बर्तन बनाने का कार्य (चुनेरगिरी), मिट्टी के बर्तन बनाना आदि जैसे पारिवारिक उद्योगों का सूर्य डूब रहा है, जिसका प्रमुख कारण सामाजिक हैं। इन कारीगरों के प्रति अस्पृश्यता की विचारधारा तथा उच्चशिक्षा ने कारीगर परिवारों के युवकों में अपने उद्योग के प्रति घृणा तथा हीनता का भाव भर दिया है। अतः ग्रामीण उद्योगों के विकास को नया स्वरूप देने के लिए एक ग्रामीण उद्योग विश्वविद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता है।

5. पर्वतीय क्षेत्रों में शिक्षित बेरोजगारी उच्चशिक्षा के साथ बढ़ रही है। बहिर्गमन अथवा पलायन की वर्तमान दर में वृद्धि हो रही है। ग्रामीण उद्योगों के प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्रों तथा राजकीय प्राविधिक शिक्षा संस्थाओं में 'फौलोअप कार्यक्रमों' की कमी के फलस्वरूप कई युवक एवं युवतियां स्वरोजगार पाने में समर्थ नहीं हो पाए हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्थानीय कच्चे मालों पर आधारित उद्योगों का प्रशिक्षण प्राप्त युवक न कुशल कारीगर होता है और न ही कुशल उद्यमी। अतः खादी एवं ग्रामोद्योगों की भावी संभावनाओं का पता लगाकर प्रशिक्षण व्यवस्था का पुनरीक्षण आवश्यक है। कुछ चयनित स्थानों पर चयनित उद्योगों को कुशल कारीगरों तथा प्राविधिक शिक्षा प्राप्त युवकों को उद्यमी बनाने को सर्वोच्च प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। ऐसा करना तब संभव होगा, जब उच्चतम प्राथमिकता के आधार पर स्थानीय संसाधनों का सर्वेक्षण किया जाये और 'ग्रोथ सेन्टर' का पता लगाया जाए। उदाहरणार्थ, श्रीनगर की रेत काँच का सामान बनाने के लिए उपयुक्त पायी गयी है, किन्तु उद्योग प्रारम्भ नहीं किया गया है क्योंकि कुशल कारीगर नहीं हैं। अतः 'ग्रोथ सेन्टर' की स्थापना के विचार से कौशल, कच्चा माल, वित्त, बाजार तथा उद्यमी की स्वेच्छा का होना नितान्त आवश्यक है।

6. स्थानीय कच्चे मालों का उत्पादन, गुणवत्तायुक्त वस्तु निर्माण, कम मूल्य, कम आयतन की वस्तुओं का उत्पादन ग्रामीण क्षेत्रों में कराकर बिक्री भण्डारों के माध्यम से 'गारण्टी युक्त' होना चाहिए। कारीगरों से 'नकद खरीद' होनी चाहिए न कि उधार क्रय। ग्रामीण कारीगरों की बिक्री भण्डारों पर वाहय स्थानों के कच्चे मालों की व्यवस्था 'सब्सिडी युक्त' होनी चाहिए।

7. पर्वतीय क्षेत्र के खादी एवं ग्रामोद्योग प्रमुखतः वन, कृषि, पशुपालन व उद्यान विकास पर निर्भर है। इन विभागों की विकास नीति तथा ब्यूह संरचना का निश्चित रूप से ग्रामीण उद्योगों पर दूरगामी प्रभावी होंगे। अतः इन विभागों के साथ खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, आयोग, उद्योग विभाग उत्तराखण्ड, जनपद ग्रामीण विकास अभियंत्रण का समन्वय तथा संयुक्त विकास नीति व ब्यूह रचना अत्यावश्यक हैं अन्यथा स्वरोजगार सृजन व प्रति व्यक्ति वास्तविक आय वृद्धि परिकल्पना स्वपनवत बनी रहेगी।

8. खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड की पृथक से पर्वतीय क्षेत्र के विकास हेतु एक विशेषज्ञ समिति होनी चाहिए, जिसमें गढ़वाल एवं कुमाऊँ विश्वविद्यालय के साथ-साथ पन्तनगर विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र, वाणिज्य तथा अन्य सम्बन्धित विभागों, खादी आश्रम, खादी ग्रामोद्योग आयोग का प्रतिनिधि, पर्वतीय क्षेत्र के खादी उद्यमी प्रतिनिधि बोर्ड के नामित सदस्य, उद्योग विभाग के संयुक्त निदेशक, रेशम उद्योग के उपनिदेशक सम्मिलित हों। यह हाईपावर समिति के रूप में निदेशक, खादी ग्रामोद्योग को समय-समय पर निर्देशन व मार्गदर्शन करती रहें।

उपसंहार

पर्वतीय क्षेत्र में खादी एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास की शासन की नीति तथा ब्यूह रचना खोखली तथा त्रुटिपूर्ण हैं। उत्तराखण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों का ह्रास हो रहा है। कारणों की जांच तथा प्रत्येक परिवार, ग्राम तथा खण्ड स्तर पर ग्रामीण उद्योगों के कुशल कारीगरों, स्थानीय कच्चे मालों, बीमार ईकाइयों, यातायात के साधनों, स्थानीय कच्चे मालों की उपलब्धि तथा उनसे सम्बन्धित विभागों में समन्वय तथा खादी-ग्रामीण उद्योग विकास परक नीति निर्धारण तथा विकास, ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय वस्तुओं की मांग, निकटवर्ती बाजारों से प्रतिस्पर्द्धा तथा प्रतियोगिता आदि का विस्तृत सर्वेक्षण अध्ययन तथा मूल्यांकन नितान्त आवश्यक है।

अतः औद्योगिक विकास के लिए स्थानीय अनुसंधान तथा सर्वेक्षण की आवश्यकता सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र में हैं। अन्यथा तदर्थ प्रयोगों से उत्तराखण्ड के सम्पूर्ण पर्वतीय क्षेत्र में औद्योगिक विकास, स्वरोजगार सृजन, आर्थिक उन्नति का सपना अरबों रूपये के बजट प्रावधानों से भी नहीं होने वाला है। निर्धनता का दुश्चक्र तोड़ने के लिए निर्धनों में नये विश्वास, तकनीक कौशल व ऊपरी अवस्थापना देने के साथ पूँजी आवश्यक है, किन्तु पूँजी सब कुछ नहीं है।

संदर्भ

1. बजटीय सहायता के लिए केवीआईसी, पृ0 6, सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्योग मंत्रालय।
2. हमारे बारे में –दिल्ली खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड
3. एमएसएमई मिनिस्ट्री आस्कड टू रिज़ा रिबेट स्कीम, द इंडियन एक्सप्रेस
4. डब्लू डब्लू रोस्टोव, 'दि स्टेजेज ऑफ इकोनोमिक ग्रोथ'
5. जनगणना-1981
6. पर्वतीय विकास विभाग, उ0प्र0 शासन, 'पर्वतीय क्षेत्र का विकास –प्रगति (1986-87), पृ0 34,(1989-90) तथा (1990-91)', पृ0 199
7. इ0 टी0 एटकिन्सन- 'दि हिमालयन गजेटियर' (1973), पृ0स0 86
8. डा0 एन0 एस0 बिष्ट – 'एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का समीकृत मूल्यांकन (1984-85), दशोली विकास क्षेत्र'।
9. Arunachalam. K (1974): "Khadi Economics ,A few Aspects" PP. 16-172
10. Chaurasia, R.A. (1988): "Agro Industrial Development-A Strategy" PP. 1-17
11. Desai vasant (1993): "A study of Rural Economics", Himalya Publishing House.
12. Gandhi M. K. (1955): "Khadi Why and How" PP. 1-16
13. Hutton J. H. (1973): "Caste in India", Oxford University Press, Bombay.
14. Planning Commission December, (1984) "Report of the committee on Credit facilities for village and small industries sector, Govt. of India, PP. 15
15. Uma Maheswara Rao, C.H.: "Small Scale Industries-Some Economic Aspects", September 1965, PP. 3-117.
16. Vasant Desai, Dr. (1991) : "Problems and Prospects of small scale industries", PP. 1-15.

Journal:

17. Azagudasan, "Khadi Silk Production industry", Khadi Gramodyog, January 2000, PP. 196-200.
18. Banerjee, Pranab K. : "Future of Khadi and Village Industries", Khadi Gramodyog, October 1998, PP. 58-61.
19. Seerangarajan R. : "Development of Khadi in Fifty Years (1947-1997)", Khadi Gramodyog, March 1998, PP.229-239.
20. Shivaji Sarkar, "Jobless Growth and New Economy- Can Khadi Be An Answer", Khadi Gramodyog, October 2000, PP.7-10.

Report:

21. Annual Report (2001-02), "Ministry of Agro and Rural Industries", Govt. of India, PP. 31-39.
22. Khadi and Village Industries Commission (KVIC)- Annual Report, 1980-81, KVIC, October 1982, PP.1-203.
23. Second Five Year Plan Committee, New Delhi, 1955, PP.16.

एफ. एन. सूजा की चित्रकला में श्रृंगारिक प्रेम की अभिव्यक्ति

संजीव कुमार*

लेखसार

समस्त प्राणियों का स्वभाव है कि स्वाभाविक यथार्थ से भिन्न होने, दिखने या करने का उपक्रम करे पर क्या कल्पना की भी कोई सीमा होती है? कला सत्य, शिव व सुन्दर की आत्मा है। कला के बारे में कहा जाता है— 'कलयति मनासि: सा कला' अर्थात् जो मन को सुन्दर लगे, आकर्षक लगे वही सुन्दर है।

कला

मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ खोज है। कला चिरनिरन्तर है, उसके रूप बदले, रंग बदले। लेकिन कला का आन्तरिक स्वरूप हमेशा पहले जैसा ही रहा। कलाकार अपनी जाग्रत चेतना से सुसंगत विश्व के प्रणाधार बिंबों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता था उसके बिंब प्रकट कर देते थे, जो इंद्रियों को दिखाई नहीं देता था और वह प्रतीकात्मक आकारों व समानुपात द्वारा इस ब्रह्मांड के मूलभूत पहलुओं एवं परम चेतना को उद्घाटित कर देता था। सूजा की अभिव्यक्ति भी कुछ इसी प्रकार की है जिनको नजर अंदाज करना ना मुमकीन है।



चित्र सं. 1

एफ. एन. सूजा। (1924)

एफ. एन. सूजा एक कुशल कलाकार के साथ-साथ एक अच्छे लेखक भी थे। इनका जन्म 1924 में गोवा के ईसाई परिवार में हुआ। लन्दन जाने के पहले सूजा गोवा के जीवन शैली पर काफी चित्रों का सृजन किया जिन पर इन्होंने सिर्फ न्यूटन लिखा।

सूजा की परवरिश कैथेलिक परिवेश में हुई सूजा के पिता अपने गाँव में अंग्रेजी के अध्यापक थे तथा न्यूटन नाम इन्हें इनके पिता के नाम से मिला परन्तु पहला नाम फ्रांसिस था। इनकी मां ने ईसाई संत फ्रांसिस जेवियर के नाम से लिया था जिन्होंने बचपन में इनको चेचक कि बीमारी से बचाया था जिसके चिन्ह इनके चेहरे पर देखे जा सकते हैं।

सूजा बचपन में जेजुईट शिक्षा के लिए जेजुईट स्कूल सेंट जेवियर हाई स्कूल जाने लगे परन्तु जेजुईट संत ने इन्हें इनकी कामोउद्दीपक रेखाकण के लिए टोकना शुरू किया जो ये स्कूल की प्रयोगशाला की दीवारों पर बनाते थे। इस संदर्भ में सूजा की सफाई होती थी की वे अपने सहपाठियों की बहुत खराब रेखाकण को सिर्फ सही करते थे। जिसके कारण इन्हें दो साल के पश्चात् स्कूल से निकाल दिया गया।

सूजा अच्छे आरेखकार थे ओर ईटली की तेल चित्रों व छाया चित्रों का खूब अध्ययन

* प्रवक्ता, राजकीय कला महाविद्यालय, चण्डीगढ़

किया करते थे। सूजा के रिश्तेदार हमेशा सूजा को बताते थे की माईकल एंजिलों व राफेल सच्चे व महान फरिस्ते थे, और भारतीय मूर्तिकला आदर्शों की पूजा गन्दे दिमाग वाले मूर्ति पूजकों के द्वारा की जाती है।

1940 में सुजा ने जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट में दाखिला लिया जोकि लन्दन की रायल अकादमी से जुड़ा था, परन्तु वहां कि विधिवत् अध्ययन प्रणाली को मानने से मना कर दिया जिसके कारण इन्हें वहां से भी निकाल दिया गया।

समय के साथ सूजा ने स्वभाविक तरीके से चित्रण करना शुरू कर दिया था और पुस्कालय की किताबों से कला का अध्ययन शुरू किया एवं ये शास्त्रीय भारतीय कला व यूरोपिय कला से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। ये दक्षिण भारतीय कास्य मूर्ति शिल्पों व खजुराहो के कामुक चित्रों से बहुत ज्यादा प्रभावित थे।



चित्र सं. 2

सूजा जानते थे कि ये अकेले काम करके भारतीय कला जगत को प्रभावित नहीं कर सकते थे, इन्हें एक कला समूह की जरूरत होगी जो इनके समान सोच व विचार धारा परखते हों। इसलिए इन्होंने 1948 में प्रोगरेस्वि कला समूह की स्थापना की। जिसमें के. एच. आरा, एस. एच. रजा, एम. एफ. हुसेन, एच. ए. गाडे व सदानंद बाकरे सदस्य थे।

रूडी वोन लेडीन, जो उस समय के बहुत ही प्रभावी कला समालोचक थे उन्होंने उस समय मुम्बई दैनिक अखबार में इस प्रकार लिया –

‘ये चित्रकला के प्रमुख तत्व, रंग और आकार भावनात्मक शक्ति व गोरव में विश्वास रखते थे जिसको की ये मुख्यतया शुद्ध व अमूर्त रूप में भावना को दर्शाने के लिए प्रयोग करते थे। इन्होंने चिजों के बह्य रूपाकाणों को नकार दिया था और एक आम व्यक्ति के लिए जो भंग व अप्राकृतिक आकार है उसको अपनाया’।

प्रोगरेस्वि कला समूह की पहली कला प्रदर्शनी जुलाई 1949 में हुई जिसके बारे में सुजा ने लिखा— ‘आज हमने विषय वस्तु व तकनीकि आजादी के साथ—साथ चित्रण किया है लगभग अराजकता की तरह क्योंकि हम एक व दो सुढ़ तत्वों ओर सौन्दर्य कला के अविनाशी नियमों व रगों के लचीले संयोजन से बर्धे हैं।’

1957 में समूह पूरी तरह घायल अवस्था में पहुंच चुका था क्योंकि उसके उद्देश्य एक एक करके समूह को छोड़कर विदेश में बसने लगे थे जैसे सूजा 1949 में, रजा 1950 में ओर उसके बाद बाकरे आदि।

गीता कपूर जोकि रोयल कालेज ऑफ आर्ट की एक भूत पूर्व छात्र थी, उन्होंने यूरोप में सूजा की सफलता पर एक टिप्पणी की जोकि उनकी किताब ‘कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल’¹¹¹

1. कपूर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ 150

‘सूजा पहले भारतीय कलाकार थे जो पश्चिम में एक सनसनी थे। सूजा अपने यूरोपीय समकालीन कलाकारों में काफी ऊँचे पायदान पर थे। सिर्फ दो कलाकार जोकि आकृति अभिव्यक्तिवादी थे जैसे ग्राहम सदरलैण्ड लन्दन में बसाट बफैट फ्रांस में, सूजा सिर्फ इन दोनों से पीछे देखे गये जिनके साथ अकसर इनकी तुलना की जाती थी, क्योंकि कोई भी महसूस कर सकता था की सुजा प्रखरता से अपने आप को अभिव्यक्त करते थे तथा दर्शक पर एक छाप छोड़ते थे।’

1983 में सुजा ने अपने चित्र ” still life with lamp and sewing machin” के विषय में अपना वक्तव्य कुछ इस प्रकार दिया –

1. कपूर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ स0 15

‘मेरे लिए सिलाई मशीन एक कामुक वस्तु थी जब मैं एक युवा था, मेरी मां मुम्बई में कपड़े डिजाईन करने वाली थी तथा बहुत सी अंग्रेज लडकियां अपने अनुकूल कपड़े बनवाने आती थी तब मैं झांक कर उन्हें देखा करता था और यही वजह है कि मैं स्त्री आकृति बनाने में काफी अच्छा हूँ। मैं 1930 कि बात कर रहा हूँ जब भारत में सिलाई मशीन के साथ मशीन युग की शुरुआत हो रही थी, जिसकी प्रशंशा महात्मा गांधी ने भी की थी।’

1949 और 1967 में सुजा अपने कार्य क्षेत्र में शिखर पर थे, लन्दन में 1950 के आखिर में ओर 1960 के आरम्भ में सूजा को काफी सराहनीय प्रशंसा मिली तथा उनको उन पांच कलाकारों में से एक रूप में चूना गया जो गोगेहिय अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए इंग्लैंड का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उस समय कला समालोचक गाय ब्रेट ने ग्राडियन अखबार में लिखा—

‘ज्यादातर कला समालोचकों व कला खरीदारों अथवा लोगों की यह जिम्मेदारी है कि वे उभरती प्रतिभा को पहचाने तथा उस पर विश्वास करें तथा उसके अग्रगामी व्यक्तिगत क्रियाकलापों की सराहना करें वहां भी और हमेशा ही महान आकृति चित्रण करने वाले कलाकार हुए, तथा वे हमेशा ही ये सोचते रहे की उस चित्र में हमेशा ही एक व्यक्ति हो, परन्तु वेनगोग जोकि वास्तविकता में अपने मन की गहराई से चित्र निर्मित करते थे उसी प्रकार रेनवार थे हालांकि पहले वे कला खरीददारों के द्वारा नकारे गये थे। सुजा भी उस श्रेणी के लिए एकदम अनयुक्त व्यक्ति है।²¹ उसी प्रकार अमेरीका में 1955 में कला समालोचक जेम्स बर्न ने आर्ट न्यूज एवं रिवियु में इस प्रकार लिखा—



चित्र सं. 3

‘की छाया चित्रण के पीछे कहीं ना कहीं उस व्यक्ति की छवि चित्रण पर नियंत्रण 2. कपूर गीता, वहीं पृ. स. 35

पाने की इच्छा रहती है परन्तु सूजा के चित्रों में आप पायेंगे की कुछ वास्तविक चित्रण कार्य कर रहे हैं, आप इन्हें इनकी आकृतियों के काफी नजदीक पाते हैं, जैसे कि ये इनके

2. कपूर गीता, वही पृ स0 35

जीवन को बचाती दिखती है। सूजा ने खुद कहा है की मैं अपने आप को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त करता हूँ ये चित्र भीषण जरूरत के लिए बने हैं।

अगर कामुकता की प्रथमिकता किसी कलाकार के कार्य में कोई महत्व रखती है तो यहां यह बात काबिले गौर है कि सुजा और बैकोन कामुकता के क्रम में विपरीत सिरों पर थे। सूजा अति सक्रिय इतरलिंगी थे।¹³¹

पिकासो व अन्य का प्रभाव –

सूजा पर पिकासों का प्रभाव बहुत ही बढ़ा है क्योंकि पिकासों ने 20 ई. की चित्र कला की भाषा में बदलाव लाया सूजा खासतौर पर इनकी कृति *sabartes* के सहज गुणों से प्रभावित सुजा की कृति *young ladies in Belsize* चिंता जोकि बिल्कुल पिकासों की प्रतिध्वनी ही दिखती है। पिकासों ने इस कृति के प्रति जो कुछ भी कहा वह ध्यान देने योग्य है। 'तुम्हें याद है कि यह चित्र पहले *brothel at auignon*, परन्तु तुम जानते हो क्यों? *vignon* नाम मेरे जीवन से जुड़ा बार सिलौना से जहां में D'Avignon से कुछ ही दूरी पर रहता था तथा जहां से मैं हमेशा कागज खरीदता था व रंग वैश्याओं के घूरने के दौरान खरीदता था। 'जब सूजा 1967 में लन्दन से न्यूयार्क गये तो टाईम्स विकली के लेख में इन्होंने *Demi-Monde* के आस पास के वातावरण के बारे में कुछ इस प्रकार लिखा कि इनके घर के पास था।



चित्र सं. 4

'यह होल टाईम्स स्कवायर स्ट्रीट ईलाका बहुत ही खतरनाक अपराधी गुट की सर्कस की तरह था, यहां पर जीवन था जिसका अर्थ था अपराधी जगत, दलाल, वैश्याओं 3. मास्टर्ज ऑफ कंटेंपोरेरी आर्ट फ्राम सार्क, 1992, प्रदर्शनी केटेलोग पृ. स. 21

व अपराधी गुट के व्यक्ति जो सुंदर तरीके से तैयार दिखते थे। वहां वैश्याओं के दलाल तुम्हें शरीर उपलब्ध कराते थे। वैश्याओं के शरीर का छण मात्र दर्शन आपकी आखों में दस्तक देता था।'¹⁴¹



चित्र सं. 5

1930 के दशक में पिकासों छवि चित्रण में काफी प्रयोग कर रहे थे, जहां पर वे एक साथ सामने व एक चश्म चेहरे को दिखाते थे जोकि उनके द्वारा बनाया श्रीमती डोरा के छवि चित्रण में देखा जा सकता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1950 में सूजा ने अपने चित्र *front and back nude* जोकि 1950 में बना था इस चित्र में सूजा ने भी पिकासों की तरह दोनों परिपेक्ष व रूपरेखा को बनाने की कोशिश की है वह भी ज्यादा कामुक व अतिथार्थवादी रूप में जोकि रेनुआ की काली बह्य रेखाओं से काफी प्रभावित थे। इस कृति के विषय में सूजा ने कहा –

3. कपुर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ स0 15

4. कपुर गीता, वही पृ स0 35

‘यह आगे व पीछे का सौन्दर्य तर्क का विषय है, जिसमें सामने का भाग अभी भी दिख रहा है, जिसे आप मूक भाषा कह सकते है..... कुछ शुद्ध चित्रकार सलाह देते है कि मेरे नग्नकृतियों को पर्दे के पीछे रखना चाहिए।’¹⁵¹

वैज्ञानिक नियतिवाद—

सूजा वैज्ञानिक नियतिवाद से काफी जुड़े हुए थे खासतौर पर हाडर्वड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ई ओ विलसन के समाज जैवीकी पर लिखे लेखों से। शुरुआत में यह थियोरी लेखक के द्वारा कलाकार को काफी सरल रूप में समझायी गई 1976 में एक दूसरे से मुलाकात के दौरान, बताया कि जानवरों के जगत में यह पहले ही उनके अनुवांशिक रूप से उनके अन्दर विद्धमान है जोकि अनुपालन के लिए बहुत ही कम

4. केसर उर्मि, ट्रेंड्स इन द फार्टीज पृ. स. 31
5. केसर उर्मि, वहि पृ. स0 45

स्थान छोड़ता है। यह कुछ धर्मों में भाग्य के अन्धविश्वास से जुड़ा है, परन्तु इस भिन्नता के साथ कि समाजैविक अनुभव प्रयोग व साक्ष्यों पर विश्वास रखता है। सूजा जन्य व भैतिक विज्ञान में अनुभव व झुकाव रखते थे खासतौर पर पीढ़ीदर पीढ़ी कला और विज्ञान में।

सूजा कला और विज्ञान में बनावटी रूकावटों को तोड़ने की ईच्छा रखने के बावजूद वास्तविकता को साफतौर से समझ चुके थे तथा इन्होंने 1986 में इस प्रकार कहाँ —

‘कला और विज्ञान में बहुत बड़ी व महान भिन्नता है विज्ञान का अर्थ से मेरा तात्पर्य शुद्ध विज्ञान से है तथा कला से तेरा तात्पर्य ललित कला से है, ललित कला को सौन्दर्य की कसोटि पर जांचा जाता है तथा सौंदर्यशास्त्र सुन्दरता का विज्ञान है।’¹⁶¹

रेखांकन व स्वच्छंदता—सूजा एक समकालीन एवं सढ़ रेखांकन कर्ता थे जिनकी तुलना बिना किसी संकोच के पिकासो व मातिज से के रेखांकन से कि जाती रही।

1983 में सूजा ने अपने जीवनी लेखक को बताया कि—

‘मैं भारत व पश्चिम के कला विद्यालयों में पिसा हूँ life drawing, तथा परिपेक्ष रेखांकनों व इन रेखांकनों के रूप में रेखांकन बहुत ही कठिन व महत्वपूर्ण स्कूल है। किसी भी कलाकार के लिए चमकदार रंगतों में जाने से पहले रेखांकन किसी कृति का कवच तथा बनावट ढांचा है। मैं रेखांकनों को बहुत ही सुढ़ रूप में देखता हूँ, जबकि मैं शुद्ध बहारी रेखांकन (outline) कर सकता हूँ यहां euclid को याद रखना महत्वपूर्ण है। एक बिन्दु जिसके पास न लम्बाई है ना चौड़ाई परन्तु एक स्थान है तथा एक रेखा विभिन्न बिन्दुओं से मिलकर बनती है तथा बहुत सारी रेखाएं एक प्लेन बनाती है और बहुत सारे प्लेन



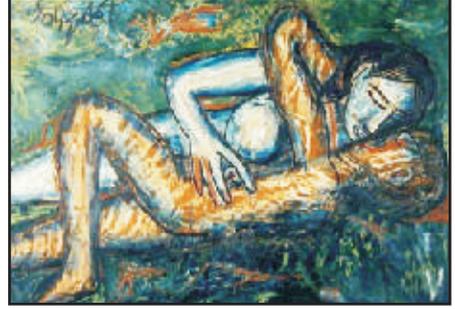
चित्र सं. 6

5. कपुर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ स0 15

6. कपुर गीता, वही पृ स0 35

एक ठोस आकार बनाते हैं, यह ज्यामितीय रूपरेखा एक महान कलाकार की स्थापना 6. मांगों प्राण नाथ, कन्टेमपरेरी इण्डियन आर्ट ए परस्पेक्टिव पृ0 स0 89 करती है। सैजान सहित जिन्होंने यह बताया कि प्रकृति शंखू, बेलनाकार व गोले के आधार पर देखी जानी चाहिए।

सूजा ने घनाकार को सीमित नहीं किया मेरे लिए रेखांकन बहुत ही महत्वपूर्ण है किसी भी ढांचे को बनाने के लिए रेखांकन एक तरीका है जिसमें रंग लगते हैं। रेखांकन आखिरकार बहुत स्वच्छंद रूप में स्वीकार का ली गई कलात्मक अभिव्यक्ति को अलग नहीं किया जा सकता। रेखांकन क्या बताती है? तथा इसमें सूजा को तार्किक रूप से पिकासो व मातिस कि तरह महान माना गया है। रेखांकन अपने आप ही कहानी बनाती है, तथा उसके अर्थ को वहन करती है, तथा एक प्रकार की नग्नता जिसमें सब कुछ बयां होता है तथा यह भी पता चलता है की किस प्रकार कलाकार की आंखें बिना रूकावट के कैसे बाहरी रेखाओं को देखती है। सूजा के बहतरीन रेखांकन 1950 से 60 के दशक में बनी जो इनकी उन चिजों को उजागर करती है जो उनके सबसे प्यारी व नजदीक है वह है व्यक्ति आकृति तथा इनके रेखांकनों में कलाकार का उत्साह, उमंग व रेखाओं का स्वतंत्र व स्वच्छंद रूप साफतौर पर देखा जा सकता है।



चित्र सं. 7

लवर्ज

एफ. एन. सूजा ने बड़ी संख्या में कल्पनाशील आकृति मूलक चित्र बनाए हैं जो किसी भी कला आंदोलन की सीमा में नहीं आते और कलाकार की निजी पहचान के सूचक हैं। उन्होंने अपने काल सृजन में निजी विषयों का चित्रण किया है और उनके विषय मुख्यतः मैथुन तथा धर्म है। उन्होंने काम भावना को धार्मिक आनंदातिरेक के स्तर तक ऊंचा उठा दिया है और यही उनके काम की ताकत तथा कमजोरी भी है। उनकी कृतियों में रूग्ण निराशा तथा जीवन के प्रति वितृष्णा का भाव उजागर होता है लेकिन साथ ही इनमें करुणा की अंतर्धारा भी निहित रहती है। एक तरह से उनकी कला में रूओं के दुराचार पर कोड़े बरसाने और पांखड के लिए फटकारने कि तरह यर्थात जगत के प्रति एक उग्र वितृष्णा दिखाई देती है। सूजा कला की भाषा का खासकर बाद की कृतियों में बड़ी ही असावधानी से प्रयोग करते हैं लेकिन उनमें इतना अधिक आवेग होता है कि लगता है, वह अपने आप से लड रहे हो। शायद उनकी कला खुद को शांत करने की एक खोज है। किन्हीं खास अनुभूतियों को दृष्य रूप देने की कोशिश में गहन वैयक्तिक बिम्बों का सृजन हुआ है, जो हमारे युग में, मानव के बंद जगहों के डर से लड़ने का भाव जगाता है। सूजा द्वारा यत्रंगामय बलिदान का चित्रण ईश्वर के पुत्र की अंतर्दृष्टि, जो खुद को उसके साथ तादात्म्य करने की हद तक देखने लगती है को उजागर करने लगती है।

फ्रांसिस बेकन की ही तरह, सूजा ने भी, समकालीन जीवन की पाशविक शक्ति के निजी स्वरूप को अभिव्यक्ति दी है जिसे वह काम भावना के अभाव के साथ स्थानापन्न कर

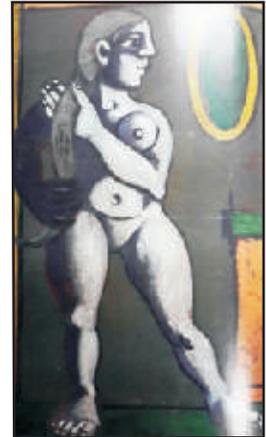
देते हैं और इस मानवीय संबंधों के विकृत मूक अभिनय को चित्रित कर देते हैं। उनकी कृति लवर्ज (चित्र संख्या-7) में ऐसे संस्कारों का चित्रण है जो मानवीय जरूरतों तथा भावनाओं के आधार भूत तत्व हैं। उनकी असंवेदनशील और गोलमटोल आकृतियां पशु-वृत्ति की तरफ संकेत करती हैं। 'सूजा ने जैविक विकास के सिद्धांतों पर अपने रूपाकारों को आधारित कर तथा घनवाद, अभिव्यंजनावाद तथा अमूर्तवाद की किन्हीं रूढ़ियों को अपना कर यथार्थ की एक नई अवधारणा को विकसित किया है। उनकी आकृतियों तथा चेहरों पर एक तरह की अजनबियत दिखाई देती है और लगता है कि इनका अपना कोई निजी अलौकिक जीवन हो, जैसेकि उनके चित्र सीटेड वोमेन और सिक्स जेंटिलमैन ऑफ आवर टाइम चित्र के वीभत्स चेहरों से स्पष्ट है। उनके द्वारा कुछ चेहरों के चित्रण में ज्यामिति का आग्रह दिखाई देता है अथवा ये ज्यामितिक या अमूर्त मुखोटो जैसी बनावट पर अध्यारोपित कर दिए गए चित्र हैं ट्रांसफिगरेशन- 1964 और हैड 1983 चित्रों में केल्टिक कला के तत्व देखे जा सकते हैं।'¹⁷¹

युगल – पेन एण्ड ईकं आन पेपर, 1959 (चित्र संख्या-4) इन रेखांकनों से हमें साफतौर से –

7. कृष्णनारायण कक्कड, समकालीन कला, नवम्बर 1980 पृ. सव 36

दिखता है जो भी सूजा ने रेखांकन के विषय में कहाँ— कि कलाकार की आँख युगल आकृति को बिना किसी व्यवधान के उसकी बहारी रेखा को अंकित किया है। पुरुष का बड़ा व सुढ़ चहेरा जो कि दर्शकों को देख रहा है जिसे देख कर ऐसा लगता है कि उस पुरुष आकृति को पता है की उसे कोई देख रहा है। पुरुष का सिर बहुत बड़ा तथा इसकी नॉक से देया कर लगता है कि यह कृति अफ्रिकी कला के प्रभाव को प्रदर्शित करती है। स्त्री का छोटा चहेरा ऐसा भाव प्रकट करता है कि वह उसे के प्रेम सम्बंध में है। हालांकि यह सोचना बिल्कुल सही नहीं होगा की सूजा के सारे रेखांकन बहुत ही सुन्दर है, इनके कुछ रेखांकन जिनमें इन्होंने स्त्री आकृति व युगल को पेन व स्याही में बनाया है बहुत ही डरावने व भद्दे है, कुछ डरावने चहरे अथवा कामोउद्दिपक आकृतियाँ जो इनकी अपनी वास्तविकता लिए बनी है बड़े बड़े दाँतों सहित बनी है जो बहुत भद्दी एवं भयानक बनी है।

न्यूड विद मिरर— 36 × 24", 1949, (चित्र संख्या-3) यह चित्र सुजा के प्रारम्भिक नग्न चित्रों में से एक है तथा जो हंस मेमलिंग के वेनिटि चित्र से प्रभावित है। जो इस बात का परिचायक है कि सूजा इस तरह के तत्वों से भलिभांति परिचित थे जिसको वे अपने कला कौशल के रूप में विकसित कर रहे थे। हालांकि 17वीं शताब्दी में पश्चिम में भी नग्न आकृतियां कला प्रशांसक के कहने पर काफी बनाई जाती रही थी जो उसके शरीर के उभारों को रेखाचित्र में देखना चाहते थे तथा अपनी वास्तविक व काल्पनिक इच्छा को उजागर व शान्त करना चाहता था। कभी-कभी नग्नाकृति हाथ में आयना पकड़े अथवा उसमें अपने आप को देखते हुए बनाई जाती थी। ब्रिटिश इतिहासकार व कला



चित्र सं. 8 न्यूड विद

7. कपुर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ स0 15

समालोचक जोन बरगर ने कुछ इस प्रकार लिखा— 'आयने को बारम्बार स्त्री की अस्मिता के चिन्हात्मक रूप में प्रयोग किया जाता था। हालांकि उसके द्वारा शिक्षा हमेशा पाखण्ड पूर्ण ही होती थी, आप एक नग्नाकृति इसलिए बनाते हो क्योंकि उसे देखकर आप आनन्द लेते हो, आप उसके हाथ में आयना पकड़ाते हो और आप उस चित्र को स्त्री की अस्मिता बुलाते हो जबकि नग्नाकृति सृजित करते हो अपनी खुशी व आनन्द पाने के लिए। जबकि आयने कि वास्तविकता कुछ ओर ही है। यह स्त्री को पहली ओर अग्रतम दर्शन के रूप में दिखाता है।'¹⁸ सूजा के चित्र न्यूड विद मिरर में एक युवा स्त्री को जिसका चहेरा एक चश्म बनाया है जबकि शरीर पुरी तरह से सामने की तरफ बनाया है शायद दर्शक को आनन्दमयी मुद्रा में ले जाने के लिए। सुजा ने नग्नाकृति को कामुकता लाने के लिए स्त्री आकृति को काफी भारी वृक्षस्थल वाली तथा मोटी सुढ़ बनाई है तथा स्त्री के बहारी उतार चढ़ाव प्राचीन भारतीय मूर्तिकला से प्रेरित दिखते हैं। पृष्ठभूमि के रंगों को काफी गहरा लगाया है जिसके कारण नग्नाकृति ओर भी ज्यादा कामुक व उत्तेजक दिखायी है एवं बाहरी रेखाये सुजा कि विशिष्टता के चिन्ह लिए हुए है, यह स्त्री की आकृति खजुराहों के मूर्तिशिल्प से प्रेरित दिखती है, मानों सूजा ने 900 सं 1000 सालों तक वहां रहकर खुद मूर्तिशिल्प को उत्किर्ण किया हो।

स्टिल लाईफ विद लेम्प एण्ड स्विंग मशीन, 1995— (चित्र संख्या—3) सूजा ने अपने एक लेख में बताया की उनकी माता एक पोषाक निर्माणकार्त्री थी जिसके लिए वो एक मुस्लिम दर्जी की सेवाएं लेती थी, तथा सिलाई मशीन की गरट गरट की आवाज जो यातायात



चित्र सं. 9

8. कपुर गीता, वही पृ स0 46

की आवाज के साथ मिलकर मेरे कानों पर एक गहरा प्रभाव छोड़ती थी।

सिलाई मशीन की सुई जोकि रेशम मलमल के कपड़े में जब अन्दर बाहर होती थी जो वह मेरी माता की कामुकता से संबंधित थी तथा लेम्प है वो पुरुष जननांग व मेरी माता के गाँव की याद दिलाता है जहाँ पर बिजली नहीं थी। यह पूरा चित्र स्त्री व पुरुष के बीच कामुक संबंध का सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है तथा पुरा चित्र मोटी रेखाओं व मोटे मोटे बुश के पेच के द्वारा बना है रंगों का संयोजन कामुकता लिए हुए है, तथा लेम्प का पिला रंग पुरुष की उत्तेजना व मशीन का गहरा रंग स्त्री की जिज्ञासा को व्यक्त करता है।

युगल, ग्वश रंग व जल रंग, 1965— (चित्र संख्या—10) यह कृति सूजा ने 1965 में सृजित की एवं इनके पसंद के मूलभावों को प्रदर्शित करती है— जिसमें एक बुर्जुग व्यक्ति एक कामुक युवा स्त्री के साथ जा रहा है। यह चित्र देखकर लगता है की यह कोई पार्टी या कार्निवाल का दर्शय हो जिसमें दोनों आकृतियों को नग्न बनाया है पुरुष के हाथ में कोई छोटा व अजीब सा जानवर पकड़े दिखाया है एवं पुरुष का चेहरा पिकासों से प्रेरित दिखता है। इस पूरे चित्र में जो सबसे आकर्षक चीज है वह है स्त्री का चहेरे के भाव व उसकी बारीकी, उसके बालों की सज्जा, आभूषणों की बारीकी व पंख का मफलर जोकि पुरुष के

8. कपुर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल पृ स0 15

अर्मुत चहरे के साथ बिल्कुल विपरीत ढंग से बनाया है। स्त्री के जननांग को पूरी तरह से सामने की तरफ दिखता हुआ बनाया गया जबकि पुरुष जननांग को पुरुष के ढका हुआ बनाया है, जोकि सूजा का सोचा समझा प्रयास था जिससे की वह दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो सके। चित्र कि पृष्ठभूमि को देखकर लगता है कि यह रात का दर्शय है रंगों का संयोजन बहुत ही सोम्य व आकर्षक है जिसके कारण सूजा इस कृति में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति में पूरी तरह सफल दिखते है।



चित्र सं. 10

यह चित्र ग्वश रंगों व जल रंगों से बना है। प्रसिद्ध कला समासलोचक जोहन बरजर जिन्होंने सूजा के हुनर को सबसे पहले पहचाना तथा उन्होंने सुजा की प्रशंसा में बहुत लम्बा लेख लिखा जो न्यू स्टेटमेन में छपा था—

‘सूजा की आकृतियां कितनी पश्चिमी कला से प्रेरित है तथा कितनी इनके अपने देश के मंदिरों से, मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता। विवेचना नीचे गई है तथा अर्न्तज्ञान उसके ऊपर आता है तथा यह एक दम स्पष्ट है कि सूजा एक बहुत अच्छे रूपकार है और बहुत ही बढ़िया आरेखकार है। परन्तु मैं इनका काम तुलनात्मक रूप से नहीं आंक सकता, क्योंकि ये बहुत सी परम्परा में फैले है परन्तु सेवा किसी की नहीं करते। सूजा ने मुख्यतया दो विषयों पर अपने चित्रों का सृजन किया पहला religion suffering और दूसरा विषय काम (sex) आन्नद जोकि 20वीं सदी की विरोधी जिसमें मानव के अहसास ओर अध्यात्म कि दुदर्शा थी।’⁹

टेरेसं मुलाली ने सूजा के लिए कुछ इस प्रकार लिखा —

‘कोई भी सूजा को अनदेखा नहीं कर सकता एक कलाकार के रूप में एवं कोई भी वजह या मौका नहीं है कि कोई इनके जगली व बड़े कार्यों को अनदेखा कर सके तथा उनका प्रभाव तभी होता है एवं क्षुब्ध कर देता है। सूजा एक प्रतिभावान कलाकार है जिनके पास आरेखन की भी काबिलियत है जिसको इन्होंने बहुत ही व्यक्तिगत रूप से विकसित किया है। सूजा की कलाकृतियों में एक डरावना घुमाव था जो अपने आप ही कामोउपिक की अधिक प्रचण्डता को व्यक्त करता है।’¹⁰

गीता कपुर ने 1976 में सूजा के विषय में कुछ इस प्रकार कहा —

‘सूजा एक समकालिन कलाकार थे तथा उसी प्रकार महान व प्रतिभावान थे जिस प्रकार फ्रांसिस बेकन थे तथा यह बहुत ही दुर्भाग्यशाली था की सूजा को कभी भी नये इंग्लैण्ड की परम्परा का हिस्सा नहीं सूझा गया।’¹¹

स्टोर, म्युजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट के पूर्व क्युरेटर ने असंगत प्रयोजन के बारे में कहा कि हास्यपद विलक्षण एक मेल है दो विपरीत चीजों का, जैसे खूबसूरती व बदसूरती—

9. कपुर गीता, वही पृ सं0 35

10. मास्टर्ज ऑफ कंटेपोरेरी आर्ट फ्राम सार्क, 1992, प्रदर्शनी कैटेलोग पृ0 सं0 21

11. केसर उर्मि, ट्रेड्स इन द फार्टीज पृ0 सं0 31

9. कॅप्स जोरजी, द नेचर लव आर्ट ऑफ़ मोशन पृ स0 70
10. वर्मा कैलास, प्रोग्रेसिव आर्टिस्टस ग्रुप रूप एक मूल्याकंन, पृ स0 50
11. कपुर गीता, वही पृ स0 69

द्वारा अपनाई गई है। सूजा के सम्भवतया सबसे ज्यादा हास्यपद कार्य मिस यूनिर्वस, जो कि 1950 में बनी थी सूजा ने अपने कुछ विचित्र मूल कारण बताए हैं इस विवादजनक सुख व दुख, विलाप व हास्य यह एक ध्वंसकारी व मोहक धारा है जो कि समकालीन कला चित्र के बारे में। 'जीवन के सुख किसी खुबसूरत सपने की तरह है, चाहे एक स्वप्नदोषी सपने की तरह, जो एक बुरा सपना व एक ब्यर्थ सपना बन गया है मेरी भविष्यक कल्पना में इस लालची दुनिया में।

सूजा के कार्यों को समझने के लिए 20वीं शताब्दी के एक महत्वपूर्ण कला समालोचक गुलायुम अपोलीनेयर के अवलोकन को याद करना महत्वपूर्ण है— उन्होंने कहा की मुख्यता दो प्रकार के कलाकार हैं। पहले जो अपने विचारों को बिना किसी चुनौति के स्वीकार करते हैं तथा दूसरे वो जो बिना किसी विचार से प्रेरणा लिए अपने अन्दर की चिजों को बनाते हैं तथा अपने अकलेपन में रहते हैं और अपनी स्वेच्छा के कुछ भी अभिव्यक्त नहीं करते अगर सूजा के विषय में कहा जाये तो खासतौर पर उनके स्त्री विचार के तो कह सकते हैं की ये दोनों प्रकार के कलाकारों का मिश्रण है।

सूजा के जीवनी लेखक मुलीनस ने 1962 में लिखा— कि सूजा का उद्देश्य कभी भी आनन्द देना नहीं था, परन्तु पता नहीं सभी इसी बात को क्यों पूछते हैं कभी भी स्तुष्ट क्यों नहीं होते? इस बात का उत्तर शायद यह है कि सूजा की कला एक अधिप्रचार है जिसका मतलब दूसरों को सम्मोहित करना तथा अपने विचारों को स्वीकार करवाना की दुनियां किस प्रकार है क्योंकि वह जाक सोचते हैं उनके चित्र असुविधा की शुरुआत है और या तो व असफल है।

इनकी सोच बड़ी शानदार होती थी उस समय के इनके समकालीन कलाकारों से तथा ये वो कलाकार थे जो जानते थे कि किस प्रकार आप को कैद करना है। इनकी प्रतिभा आपको क्षुब्ध करती है अपने जूनून के द्वारा चाहे वह चित्रकार के लिए हों या लेखन के लिए या काम के लिए। शायद यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी की इनके वास्तविक विचार इनको अपने समय के महान कलाकार के समकक्ष लाते हैं और आखिरकार एक कलाकार के तौर पर ये अपने देश की परम्परा के दृष्टिकोण व पश्चिमी कला के विस्तृत जगत में एक पुल की तरह थे।

सूजा के अपने विचार जब वे अपनी मृत्यु की उम्मीद कर रहे थे— 'मृत्यु वास्तविक है बसंत में एक गिरते पत्ते की तरह में डरता नहीं हूँ जब मे मर रहा हूँ मैं जानता हूँ कि मृत्यु आती है जब किसी का बसंत कहीं ओर चाहिए होता है। मेरे शरीर का हर बसंत हमेशा जिन्दा रहेगा इस बह्माण्ड में किसी ना किसा रूप में— मैं सिर्फ इच्छा रखता हूँ कि मैं जाना जाऊ कि मैं रोमांच के लिए जिया, जिसको मैंने अपने लिए चुना और आनन्द लिया हो।'

चित्र संदर्भ

क्र.स.	चित्र विवरण	वर्ष
1.	सीटिड वोमेन, पेन एण्ड ईक, आर्न पेपर	1975
2.	अन्टाईटल, आयल आर्न बोर्ड	1959
3.	बाथिंग वोमेन, पेन एण्ड ईक, आर्न पेपर	1969
4.	युगल, तेल रंग आर्न बोर्ड	1960
5.	युगल, रेखांकन, पेन एण्ड ईक, आर्न पेपर	1959
6.	युगल, रेखांकन, पेन एण्ड ईक, आर्न पेपर	1959
7.	लवर्ज, तेल रंग आर्न बोर्ड	1961
8.	न्सुड विद मिरर, तेल रंग आर्न बोर्ड	1949
9.	युगल, रेखांकन, पेन एण्ड ईक, आर्न पेपर	1959
10.	स्टील लाईफ विद लेम्प एण्ड स्विंग मशीन, तेल रंग आर्न बोर्ड	
11.	युगल, जल रंग, आर्न पेपर	1965

संदर्भ : ग्रथ

1. ललित कला समकालीन प्रकाशन, 1989 ।
2. कैप्स जोरजी, 1969, द नेचर लव आर्ट आर्न मोशन, लन्दन ।
3. मांगों प्राण नाथ, 2000, कन्टेम्परेरी इण्डियन आर्ट ए परस्पेक्टिव, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली ।
4. कृष्णनारायण कक्कड, समकालीन कला, नवम्बर 1980 ललित कला अकादमी, नई दिल्ली ।
5. मास्टर्ज ऑफ कंटेम्परेरी आर्ट फ्राम सार्क, 1992, प्रदर्शनी केटेलोग, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय ।
6. वर्मा कैलास, प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप रूप एक मूल्यांकन, मई 1986 समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली ।
7. केसर उर्मि, ट्रेड्स इन द फार्टीज, 1984, यूबी पब्लिसर्ज ड्रिस्टीब्यूटर्ज ।
8. कपुर गीता, कोनटेम्परेरी इंडियन आर्टिस्ट के दस साल ।
9. www.FN Suza foundation.com
10. www.contemporary art gallery.com

पारम्परिक भक्ति संगीत परम्परा (ब्रज क्षेत्र के विशेष संदर्भ में)

डॉ. अंजना झा* एवं नन्दकिशोर झा**

मुगलकाल में श्रृंगारिक रचनाओं का प्रचार अधिक था क्योंकि इस समय से भारतीय संगीत मुसलमान प्रशासकों के लिए केवल भोग—विलास का साधन रह गया था परन्तु जब भक्ति आंदोलन ने जोर पकड़ा तो संगीत ने भजन कीर्तन का रूप लिया तथा अन्य प्रकार की गये विधाओं का भी आध्यात्मिक धरातल सृदृढ़ होने लगा। इस समय में अकबर ने यद्यपि वह मुसलमान था परन्तु फिर भी ललित कलाओं के विकास के लिए भरपूर प्रयत्न किया और संगीतज्ञों को प्रोत्साहन दिया। अकबर के काल में ग्वालियर तथा ब्रज संगीत शास्त्र वेत्ता के संरक्षण में ध्रुवद शैली का प्रचार और परिष्कार हो रहा था और दूसरी ओर ब्रज के मंदिरों में ध्रुपद शैली में अनेक भगवद् भक्ति से युक्त पदों की रचना करके उन्हें भगवद् वन्दना के रूप में गाया जा रहा था। इस प्रकार यह काल संगीत कला के विकास की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट काल था। एक ओर दरबारी संगीत की दृष्टि से ध्रुवपदों में बादशाह की प्रशंसा, शौर्य और वीरता का वर्णन होता था तो दूसरी ओर भक्ति संगीत के अन्तर्गत ध्रुवपद में कृष्ण—लीला का वर्णन किया जाता था। वैष्णव सम्प्रदायों की प्रचलित गायन शैलियाँ इस समय दो भागों में विभाजित थीं। शास्त्रीय संगीत तथा सरल अथवा लोक संगीत। वल्लभ सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय में शास्त्रीय संगीत की तथा गौड़ीय सम्प्रदाय में विशेषतः नाम संकीर्तन की, जो लोक शैली पर आधारित था, प्रधानता थी। रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी संगीत की किसी विशेष शैली को महत्व नहीं देते थे परन्तु फिर भी वे अपने पदों को रागों में बद्ध करके ही प्रस्तुत करते थे। इनका संगीत साम्प्रदायिक सेवा प्रधान संगीत नहीं था, बल्कि केवल जन समाज को भगवद्भक्ति के मार्ग पर प्रेरित करने के लिए ही था। इसमें तप, व्रत, अनुष्ठान, तीर्थाटन, जप और साधु सेवा आदि को ही भगवद् प्राप्ति के साधन रूप में स्वीकार किया गया जबकि महाप्रभु बल्लभाचार्य जी, हित हरिवंश हरिदास जी तथा चैतन्य महाप्रभु आदि भक्तों ने जनसाधारण की रुचि कृष्ण भक्ति की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की नित्य और नैमित्तिक सेवाओं का निर्धारण किया। भक्त्यात्मक पदों की रचना करके भक्ति के स्वरूप और संगीत में एकात्मकता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

16वीं शतब्दी में कृष्ण के अभ्युदय तथा विलास का मुख्य स्थल वृन्दावन था। यहाँ निवास करने वाले पवित्रात्मा वैष्णव भक्तों ने भगवान की मधुर लीलाओं का दर्शन कर अपने लोचनों को और रम्य चरितावली का गायन कर अपने जीवन को कृत कृत्य किया।

ब्रज में भक्ति संगीत की परम्परा वहाँ के भक्तों में संगीत के प्रति विशिष्ट प्रेम के कारण प्रचलित हुई। जब वहाँ के भक्त भगवत् प्रेम में ओत—प्रोत होकर श्री बांके बिहारी जी की विभिन्न लीलाओं का बखान करते थे तो लीलाओं का श्रवण करने वाला समाज स्वतः ही संगीत की रसधारा में डुबकियाँ लेने लग जाता था। संगीत की रसधारा उन्हें उनके प्रेम को एक निश्चित राग एवं ताल में आबद्ध करने को बाध्य कर देती थीं।

* कथक नृत्यांगना ** शोधार्थी, राजा मान सिंह तोमर, कला एवं संगीत विश्वविद्यालय ग्वालियर

ब्रज में भक्ति की परम्परा वहाँ के भक्तों में कीर्तन के प्रति विशिष्ट अनुराग के कारण पनपी। ब्रज के विभिन्न संतों ने समाज गायन की विभिन्न परंपरायें प्रतिपादित कीं। उनके सेवा एवं अर्चना की विभिन्न शैलियों के कारण उनके विभिन्न सम्प्रदाय प्रकाश में आए। हिन्दी में विक्रम की 15वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर 17वीं शताब्दी के अन्त तक सगुण और निर्गुण नाम से भक्ति काव्य की दो धाराओं के अन्तर्गत (1) कृष्ण भक्ति शाखा (2) राम भक्ति शाखा (3) ज्ञानाश्रयी शाखा तथा (4) प्रेममार्गी सूफी शाखा के भक्तों ने चार शाखाएँ स्पष्ट रूप से प्रचलित लक्षित होती हैं। कृष्ण भक्ति शाखा के भक्तों ने ब्रह्म के "सत्" चित् और "आनन्द" स्वरूप का साक्षात्कार कृष्ण के रूप में किया।

भारतीय संगीत कला प्रारंभ से ही धर्म का आधार लेकर विकसित हुई। आज भी संगीत की पवित्रता एवं उज्ज्वलता के कारण उसे धर्म के साथ आबद्ध कर मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। भारतीय संगीत के उद्गम एवं विकास में "भक्ति" एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है। जिससे संगीत की तालों व ध्रुपद धमार आदि विभिन्न रगेय विद्याओं में उनका कलात्मक पक्ष सजीव रूप में उभरा है। वैष्णव धर्म में वेद, संहितायें, उपनिषद्, गीता और भागवतपुराण के अतिरिक्त हरिवंश पुराण और भागवत् पर लिखे गये भाष्य आदि भक्ति के मुख्याधार ग्रन्थ हैं। मध्यकाल में ग्रन्थों के मुद्रण की सुविधा उपलब्ध न होने के कारण ब्रज के अधिकतर वैष्णवाचार्यों ने साहित्य एवं संगीत को सुरक्षित रखने के लिए "समाज गान" पद्धति का प्रचलन किया जो ब्रजभूमि की ही देन है। इस पद्धति के अन्तर्गत माधुर्योपासक भक्तिपरक संगीत का ही अन्तर्भाव रहा। इसीलिए वैष्णव देवालयों में मुख्यतः स्वर प्रधान तथा रस भावभिव्यंजनात्मक रूप से शास्त्रीय संगीत की परिपक्व शैली ध्रुपद धमार को प्रमुखता दी गई।

ब्रज के धार्मिक सम्प्रदायों में रतिभाव की भक्ति को वैष्णव भक्ति साधन का एक मुख्य अंग माना गया है। सभी सम्प्रदायों में आराध्य के प्रति-प्रीति के चार भाव ही मुख्यतः अपनाएँ गये हैं - दास्यभाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव और माधुर्य भाव।

ब्रज में समाज गायन की परंपरा को विकसित करने में वहाँ के भक्तों के हृदय में अपने आराध्यदेव के प्रति भक्ति भावना ने विशेष भूमिका निभाई है। परमात्मा, जीव और जगत की अभिन्नता के समान ही भक्ति और संगीत का सम्बन्ध है। भक्त और भगवान के बीच भक्ति का साधन संगीत ही बनता है चाहे वह केवल "ओम" का ही उच्चारण मात्र हो। संगीत कला का सम्बन्ध आध्यात्मिक उपासनाओं में प्रयुक्त कीर्तन, भजन आदि के रूप में धर्म व भक्ति से सदा ही रहा है।

संगीत का महान गुण है कि वह चित्तवृत्तियों को शान्त तथा एकाग्र करके श्रोताओं को तन्मय कर देता है। भक्ति तथा संगीत परम्परा एक दूसरे के पूरक हैं। भक्ति द्वारा भक्त का चित्त आत्म शक्ति प्राप्त करत है परन्तु उसमें स्थिरता संगीत के माध्यम से होती है।

ऐतिहासिक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर "विष्णु" शब्द का प्रयोग हुआ है "विष्णु" शब्द "विष" धातु में "नुक्" प्रत्यय लगाकर बना है। "विष्णु" शब्द का अर्थ है। "विष्णु" की प्रधानता और महात्म्य इस बात का द्योतक है कि भक्ति की दृष्टि से सब देवी देवताओं की तुलना में विष्णु के नाम व रूप को अधिक आकर्षक माना गया। इसीलिए वैष्णव धर्म में विष्णु की विविध रूपों की कल्पा की गई। विष्णु की पूजा करने

वाले भक्त को वैष्णव कहा गया। वेदों के समय से ही विष्णु को इन्द्र का पर्यायवाची स्वरूप माना गया। उपनिषद् काल में ब्रह्मा स्वरूप और पुराणकाल में प्रचलित भगवान विष्णु के विशेष स्वरूप को वैष्णव धर्म का आधार माना गया।

ब्रज के धार्मिक सम्प्रदायों का युग ग्यारहवीं में सोलहवीं शताब्दी तक माना जाता है जिसमें रामानुजाचार्य से लेकर स्वामी हरिदास जी तक सभी आचार्यों की कथा एवं उनके सम्प्रदायों की गणना की जाती है।

विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न धार्मिक महापुरुषों में भगवत उपासना के मार्ग को प्रशस्त करके तथा श्रीकृष्ण के लालित्यपूर्ण चरित्र का चित्रण, काव्यरचना, पदगायन तथा कीर्तन स्तुति आदि के रूप में रचना करते हुए तथा गाते हुए जनसाधारण के सामने रखा और उन्हें भगवद् महिमा तथा कृष्ण के रूप में गुण और माधुर्य निहित गरिमा और भगवद् भक्ति के रहस्या को समझाने का सफल प्रयत्न किया लेकिन यह धार्मिक सम्प्रदाय भी पारस्परिक वैमनस्य से मुक्त नहीं हो सके क्योंकि इस समय के कुछ सगुण मार्गी थे कुछ निर्गुण, जबकि कुछ कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति में विश्वास रखने वाले और अन्य तंत्र विद्या में विश्वास रखते थे और वैष्णव, शाक्त, शैव, बौद्ध तथा जैन धर्मों के विश्वासी आदि सभी अपने को श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम् सिद्ध करने के लिए पूर्णतया प्रयत्नशील थे, लेकिन फिर भी सगुण भक्ति के आचार्यों ने और भक्त कवियों ने तत्कालीन परिस्थितियों में सामना करने के सशक्त आधार प्रेम-भावना को सर्वाधिक महत्व दिया और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य संगीत और साहित्य का आधार प्रदान करके सम्पूर्ण देश के जनसमाज को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध कर दिया।

ब्रज के धार्मिक सम्प्रदायों में शास्त्रीय संगीत का विशेष स्थान रहा। गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रचारक महाप्रभु चैतन्य का तो "नाम सकीर्तन" संगीत की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने सम्पूर्ण बंगाल में तथा उसके पश्चात् वृन्दावन हरिनाम संकीर्तन का प्रचार किया। रामानन्दी सम्प्रदाय में प्रचलित संगीत साधारण जन-संगीत के अन्तर्गत था क्योंकि वे संगीत की किसी विशेष शैली को लेकर नहीं चले। उनका संगीत सम्प्रदायिक सेवा प्रधान संगीत न होकर जन समाज को ईश्वरोपसना की ओर उन्मुख करने के लिए था। रामानन्दी सम्प्रदाय राग प्रधान न होकर विराग प्रधान सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदाय के अविर्भाव से लेकर विक्रमी 18वीं शती के प्रथम चरण तक अन्य कृष्णोपासक सम्प्रदायों की भाँति इसमें अष्टकालीन सेवा विधान के साथ इष्ट की पूजा का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

कृष्ण भक्तों के आराधना क्षेत्र में यद्यपि साध्य की एकता थी, अर्थात् सभी ने कृष्ण को अपने आराध्य के रूप में ग्रहण किया था किन्तु उनकी सेवा-विधि तथा कृष्ण के विभिन्न रूपों सम्प्रदायों की स्थापना हुई- बल्लभ सम्प्रदाय, राधाबल्लभिय सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित सखी सम्प्रदाय आदि।

वैष्णव मंदिरों में विशेष रूप से बल्लभ सम्प्रदाय के मंदिरों में राग, भोग और श्रृंगार युक्त सेवा का एक नियामक व्यवहार शास्त्र ही है। जिसमें पारंगत हुए बिना मंदिरों की पूजा व्यवस्था में प्रवेश नहीं मिलता। पूजा अथवा भगवान की प्रतिमा का स्पर्श करने का अधिकारी या तो बल्लभकुल के गोस्वामी महिला पुरुष होते हैं अथवा गुजराती या कठियावाड़ी ब्राह्मणों का एक वर्ग। प्रधान गुजारी को "मुखिया" कहते हैं। पूजा परक अन्य कार्यों के कर्मचारी

“भीतरिया” कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले “फूलघरिया” इत्यादि कहलाते हैं।

पुष्टि मार्गीय सेवा विधि की परम्परा इस प्रकार व्यवस्थित की गई है कि इसके माध्यम से मनुष्य को हर क्षण भगवान का गुणगान करते रहने के फलस्वरूप प्रभु का सान्निध्य बना रहे। प्रातः काल से सायंकाल तक सेवा में लगा रहे तथा यह लगाव केवल एक ऋतु तक सीमित न रहकर वर्ष भर बना रहे इसके लिए समाज गायन की व्यवस्था दो क्रमों में की गई है— (1) दैनिक क्रम, (2) वार्षिक क्रम। प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत आठ बार आठ सेवाओं और बसन्तोत्सव हिंडोले तथा रासलीला आदि नैमित्तिक आचारों तथा लोक त्यौहार और वैदिक पर्वों के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव तथा श्रीकृष्ण की नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सवों का आयोजन किया गया है।

श्री कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम करना ही पुष्टिमार्गीय भक्ति है, वही साधन है वही साध्य है। बल्लभ सम्प्रदाय में दास्य, सेव्य, वात्सल्य व माधुर्य इन चारों भावों से भक्ति होती है। परन्तु स्वरूप सेवा बाल भाव से ही होती है। नित्य और वार्षिकोत्सव दोनों प्रकार की सेवा विधियों के तीन मुख्य अंग हैं — श्रृंगार, भोग, राग। सेवा विधि में संगीत तथा समाज—गायन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। मंगला की सेवा में अनुराग तथा दधि मंथन के, श्रृंगार में बाल रूप की सुन्दरता, वेषभूषा, बाल क्रीड़ा के, ग्वाल के संख्य भाव तथा कृष्ण के खेल माखन चोरी, पालना के, राज भोग में छाक के, उत्थापन में वन्य लीला के, भोग में गोपी—दशा, मुरली, गोप आदि के, संध्याति में गोदोहन, वात्सल्य भाव से यशोदा का बुलाना आदि के ओर शयन समय अनुराग, गोपी भाव को भक्ति भाव गीतों एवं नृत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। आज भी ब्रज क्षेत्रों में स्थित कृष्ण मंदिरों में प्रातःकालीन आरती से रात्रि तक विभिन्न गीतों, भवनों एवं नृत्यों द्वारा पूजा अर्चना की जाती है। इस तरह से ब्रज क्षेत्र में पारम्परिक भक्ति संगीत परम्परा चली आ रही है।

ब्रज के विभिन्न सम्प्रदायों के मंदिर समाज गायन की परंपरा को बनाए रखने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। प्राचीनतम निंबार्क सम्प्रदाय के अनेक मंदिर भारत में आज भी विद्यमान हैं। आजकल इनकी सबसे बड़ी गद्दी सलेमाबाद (राजस्थान) में है। कहा जाता है कि, पहले इस सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र ब्रज ही था परन्तु परशुराम देव जी ने सलेमबाद को प्रमुख गद्दी बनाया। आजकल इस सम्प्रदाय का बड़ा व्यवहारिक केन्द्र वृन्दावन ही है। यहाँ श्री जी की बड़ी कुँज में यमुना किनारे इस सम्प्रदाय का बड़ा मंदिर है। राधा कुंड, नीमगाँव, गिरिराज, मथुरा आदि में भी इस सम्प्रदाय के अनेक स्थान हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. व्यास श्री गोपाल प्रसाद — ब्रज विभव।
2. शुक्ल रामचन्द्र — हिन्दी साहित्य का इतिहास।
3. शर्मा डॉ० हरवंश लाला— भागवत दर्शन।
4. चौधरी रामस्वार्थ “अभिनव” — “मधुर रस : स्वरूप और विकास”।
5. मित्तल डॉ० प्रभू दयाल — ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास।

समकालीन कला में नवाचार

डॉ. कुमकुम माथुर* एवं अमितेश कुमार**

भारतीय समकालीन कला के विकास में, यूरोप के समकालीन कला आंदोलनों का गहरा प्रभाव रहा है। समकालीन कला के प्रारंभ का निश्चित तिथि का साक्ष्य नहीं है, पर अनुमानतः कहा जाता है कि समकालीन कला 19वीं शताब्दी के मध्य के बाद से एक आंदोलन की तरह आई। समकालीन कला आंदोलन ने कला के पारंपरिक बंधनों को तोड़ कर एक मुक्त कला का विकास किया। जो कला के सभी बंधनों से मुक्त थी। कलाकार अपने विचारों को किसी भी माध्यम का प्रयोग कर किसी भी प्रकार से प्रस्तुत कर सकता था।

समकालीन कला भारतीय पारंपरिक कला से तनिक भिन्न है। भारतीय पारंपरिक कला एक नियम के बंधनों में बंधकर रहती है जबकि समकालीन कला वैसी नहीं है। समकालीन कला एक स्वतंत्रा कला मानी जाती है। भारत में समकालीन कला का प्रारंभ राजा रवि वर्मा, अमृता शेरगिल और रविन्द्रनाथ टैगोर आदि की कलाकृतियों में देखा जा सकता है। इनके द्वारा ही समकालीन कला की शुरुआत हुई। अमृता शेरगिल के प्रारंभिक कार्य पाश्चात्य कला से प्रभावित थे, पर धीरे धीरे उनके ऊपर भारतीय कला का प्रभाव आ गया और वे भारतीय विषयों को अपनाती गईं। उनके आकृतियों के सरल आकार उन्हें भारतीय समकालीन कला से जोड़ते हैं। रविन्द्रनाथ को भारतीय आधुनिक कला का जन्मदाता भी माना जाता है। 65 की उम्र में उनकी कला के प्रति रुचि ने उन्हें समकालीन कला की ओर अग्रसर किया। उनके साधारण आकारों तथा रंगों का स्वतंत्रा उपयोग ने कला को नई पहचान दी। उसके बाद भारतीय कलाकारों ने अपनी स्वयं की शैलियों को विकसित करने लगे।

समकालीन कला को एक नई राह 1947 के प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप के कलाकारों द्वारा मिली। इस ग्रुप के कलाकार मकबूल फिदा हुसैन, सैय्यद हैदर रजा, फ्रांसिस न्यूटन सूजा, सदानंद बाकरे, अरा और गाड़े थे। इन सभी ने अपनी निजी शैली विकसित की और समकालीन कला को एक नई ऊँचाई प्रदान की। हुसैन की मोटी रेखाएँ, रजा की काली बिन्दू, सूजा की नग्न आकृतियाँ आदि ने समकालीन कला को एक आधार दिया। बी.सी. सन्याल, विनोद विहारी मुखर्जी, शैलोज मुखर्जी, के.जी. सुब्रमण्यम, कृष्ण खन्ना, शांति दबे, रामकिंकर बैज, सोमनाथ होरे, मंजीत बाबा, विवान सुंदरम, गोगी सरोज पाल, कृष्णा रेडडी, अनुपम सूद, सुबोध गुप्ता, भारती खेर, शिल्पा गुप्ता आदि समकालीन कलाकार हैं, जिन्होंने समकालीन कला में अपना अमूल्य योगदान दिया और दे रहे हैं।

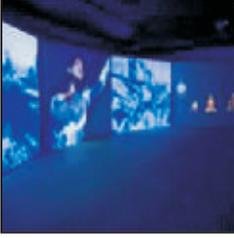
समकालीन कला में नवाचार :

समकालीन कला में समय के साथ साथ माध्यमों में अत्यंत परिवर्तन आया। पहले कलाकार तैल रंग, जल रंग, ऐक्रेलिक रंग आदि का उपयोग कर कला का सृजन करते थे।

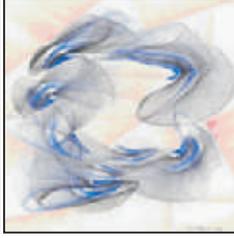
* एसोसियेटेड प्रोफेसर शासकीय के. आर. जी. स्नातकोत्तर (स्वशास्त्री) कन्या, महाविद्यालय, ग्वालियर

** शोधार्थी, राजा मान सिंह तोमर, कला एवं संगीत विश्वविद्यालय ग्वालियर

पर आज आधुनिक तकनीकों का उपयोग कला सृजन में किया जाता है। नवाचारों में मुख्यतः संस्थापन कला, वीडियो कला, अभिनय कला, जन कला, कम्प्यूटर कला आदि है। इन कलाओं का सृजन आधुनिक तकनीकों के उपयोग से या एक या एक से अधिक कला माध्यमों का उपयोग कर किया जाता है। नवाचार में संस्थापन कला काफी प्रचलित कला मानी जाती है। संस्थापन कला एक ऐसी कला है, जिसमें कला को एक विस्तार रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसके प्रदर्शन में कोई बंधन नहीं होता है।



वीडियो कला



कंप्यूटर कला



संस्थापन कला



जन कला

कलाकार अपने सोच के अनुसार अपनी कला को किसी भी जगह पर प्रदर्शित कर सकता है। इस कला में न ही माध्यम का बंधन है और न ही जगह का। कलाकार अपनी कलाकृतियों को वीथिका और वीथिका के बाहर कहीं भी प्रदर्शित कर सकता है।

भारतीय संस्थापन कलाकारों में विवान सुंदरम, सुबोध गुप्ता, भारती खेर, शिल्पा गुप्ता, नलिनी मालनी, शीबा चाची, अनिश कपूर आदि हैं। इन्होंने संस्थापन कला को एक जीवंत रूप प्रदान किया है।

विवान सुंदरम (1943) : भारतीय संस्थापन कला के पहले ऐसे कलाकार माने जाते हैं, जो दो दशकों इस क्षेत्र में कार्यरत हैं। उनके संस्थापन राजनीतिक और सामाजिक दोनों विषयों पर आधारित होते हैं। संस्थापन कला में देखा गया है कि ज्यादातर व्यर्थ



विवान सुन्दरम के संस्थापन

पदार्थों का उपयोग कर इसका निर्माण किया जाता है, जैसे पानी के बोतल, व्यर्थ पोलिथिन, कोक की बोतल, रद्दी सामान आदि। विवान सुन्दर ने अपने संस्थापन "गागा वाका" में मॉडल को व्यर्थ सामग्रियों से बने कपड़ों को पहना कर वीथिका में कैट वाक करवाया। जिसमें उन्होंने रबर के ट्यूब, बरा, स्पन्ज, प्लास्टिक के गेंद, कागज के प्याले आदि का उपयोग एक कपड़े की तरह किया था। यह संस्थापन विवान सुन्दरम ने 2011 में दिल्ली के ललित कला अकादेमी



कलाकार विवान सुन्दरम के संस्थापन



कलाकार विवान सुन्दरम के संस्थापन

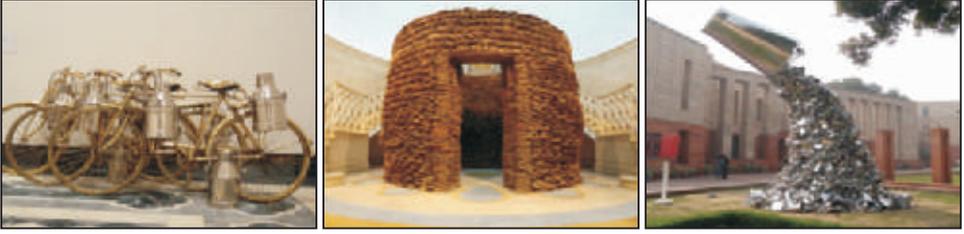
में प्रदर्शित किया था। "पोस्टमॉर्टम" (गागावाका के बाद) शीर्षक संस्थापन विवान सुन्दरम ने 2013 में वधेरा कला वीथिका में प्रदर्शित किया था। जिसमें उन्होंने पुतले (mannequin) के आंतरिक भागों को बहुत की कलात्मक रूप में प्रस्तुत किये थे। उन्होंने पुतला (mannequin), शारीरिक अंग (body organs) और परिधान (garment), रबर, चमड़ा, लोहा, टीन, संमरमर, रंग आदि का उपयोग इस संस्थापन के लिए किया था।

नलिनी मालनी (1946) : संस्थापन कला में नलिनी मालनी की भूमिका भी काफी सराहनीय रही है। उन्होंने अपनी संस्थापन कला यात्रा 1991 में "एली वे, लोहार चाल" शीर्षक संस्थापन से किया था। जिसे बनाने के लिए पारदर्शी पॉलीयेस्टर फिल्म के ऊपर 9 गुणा 4 फीट की सात इंच ड्राइंग का इस्तेमाल किया। इन्हें इस तरीके से टॉंगा गया था कि हरेक ड्राइंग एक दूसरे के ऊपर सुपरइम्पोज़ की गई लगती थी। उनके बीच में उन्होंने एक रास्ता बनाया था, जिस से होकर दर्शक गुजर सकते थे और सुपरइम्पोज़ीशन्स का हिस्सा बन सकते थे। ये लोहार चाल के बेघर लोगों की लाइफ साइज ड्राइंग्स थी। इनसे होकर गुजरने वाला व्यक्ति इन लोगों से घिर जाता था। वही उन्होंने दूसरा संस्थापन "सिटी ऑफ़ डिज़ायर" शीर्षक की 1992 में बनाया था। जिसमें उन्होंने गैलेरी की दीवारों पर सीधे सीधे ड्राइंग और पेंटिंग की थी। संस्थापन का संबंध नाथद्वारा के सदियों पुराने फ्रेस्कोज से थी। जो एक विरोध के तौर पर बनाई गई थी।



कलाकार नलिनी मालनी के संस्थापन

सुबोध गुप्ता (1964) : सुबोध गुप्ता अपने संस्थापन में घरों में उपयोग होने वाले बत्तनों का इस्तेमाल करते हैं। इन बत्तनों का उपयोग साधारणतः खाना खाने, पानी रखने, खाना बनाने आदि कामों में किया जाता है, पर सुबोध गुप्ता अपनी कल्पना शक्ति से साधारण से दिखने वाले इन बत्तनों की सहायता से एक विशाल कला का सृजन करते हैं। सुबोध के संस्थापन



कलाकार सुबोध गुप्ता के संस्थापन

में गाँव की महक आती है। उनके द्वारा उपयोग किये गये दूध के बर्तन और साइकिल, गाँव की गाय की याद दिलाती है। "लोटा" जिसका उपयोग साधारणतः पानी रखने में होता है, सुबोध गुप्ता उसे अपनी कल्पना शक्ति से एक उड़न तश्तरी का रूप दे देते हैं। "गमछा" जिसका उपयोग लोग अपने रोजमर्रा के जीवन में भिन्न भिन्न रूपों में करते हैं, उसका एक वीडियो बना कर और गमछों को एक के ऊपर एक रख कर उसे एक वीडियो संस्थापन का रूप देकर उसे "शुद्ध जगह" (pure space) शीर्षक देते हैं। वहीं बर्तनों की एक खोपड़ी बना कर सुबोध उसे शीर्षक "भूखे ईश्वर" (hungry god) की संज्ञा देते हैं।



कलाकार सुबोध गुप्ता के संस्थापन

भारती खेर (1969) : ने भारतीय नारी के माथे पर चमकने वाले बिन्दियों को अपने संस्थापन कला में उपयोग कर कला को एक नई पहचान दी। साधारण सी दिखने वाली सफेद बिन्दी जब फाइबर के विशाल हाथी पर चिपकती है तो हाथी एक आकर्षक रूप धारण कर लेता है। ये सफेद हाथी भारतीय मिथक के अनुसार शुभ माना जाता है। भारती खेर ने अपनी कला में नारी के प्रति एक सकारात्मक सोच और पारंपरिक रीति रिवाजों को अधिक महत्त्व देती हैं। चाहे शादी से पहले लड़की दिखाने और चाय पिलाने का रिवाज हो या अन्य कोई रिवाज हो भारती इन्हें अपने संस्थापन के माध्यम से बड़े बखूबी से दिखाती हैं। भारती



कलाकार भारती खेर के संस्थापन

अपने पति सुबोध गुप्ता की तरह ही घरेलू सामानों का भी उपयोग अपने संस्थापन के लिए करती है। जैसे : कम्बल, साड़ी, कपड़ें, कुर्सी, चूड़ियाँ, बिंदीयाँ, चाय के प्याले आदि।

शिल्पा गुप्ता (1976) : शिल्पा गुप्ता अपने संस्थापन में अयार्थ भाषाओं का प्रयोग करती हैं। इनका संस्थापन समाज में हो रहे अनैतिक तथ्यों पर प्रकाश डालती है। इनका "गुर्दा महाबाजार" शीर्षक का संस्थापन समाज में हो रहे अंग (organ) व्यापार पर आधारित था। जिसे इन्होंने एक दुकान में प्रदर्शित किया था। जहाँ लोग आ सके और चीनी के गुर्दे ले सके। वहीं उनका "ब्लेम" (blame) शीर्षक संस्थापन जो एक खूनी (लाल रंग के) बोतल के रूप था, जिसके प्रत्येक बोतल के ऊपर लिखा था "Blaming you makes me feel so good ! So I blame you for what you cannot control; your religion, your nationality, I want to blame you, it makes me feel good." इसी प्रकार "100 पंक्ति" (100 queues) शीर्षक संस्थापन जो 2007-08 में शिल्पा द्वारा प्रदर्शित किया गया था, उसमें शिल्पा ने पंक्ति में खड़े लोगों के तस्वीर को एक स्टील के पट्टी में घनाकृति के सहायता से दिखाया था। ये घनाकृति बिजली की सहायता से चलती थी। इसमें जो तस्वीर दिखाई गई थी। वे बस स्टॉप पे खड़े लोगों तथा सिनेमा हॉल के टिकट खिड़की पर खड़े लोगों की थी। शिल्पा अपने संस्थापन में आधुनिक तकनीकों का प्रयोग करती हैं। उनके एक संस्थापन में माइक का उपयोग हुआ है। इन माइकों को छत के सहारे लटकाया गया है और इसका शीर्षक "सिगिंग क्लाउड" रखा है।

संस्थापन कला वस्तुतः सभी बंधनों से मुक्त कला है, परन्तु इसकी कुछ सीमाएं भी हैं। इस कला का नाकारात्मक पक्ष क्षणभंगुरता है, जो इसकी स्थायित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। इस कला के सकारात्मक प्रभाव के साथ साथ इसके कुछ नाकारात्मक प्रभाव भी हैं। सकारात्मकता में देखा जाए तो, यह एक स्वतंत्र कला है, इसे आप कहीं भी और किसी भी रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं। माध्यमों के चुनाव में भी कोई बंधन नहीं है। कलाकार किसी भी वस्तु का चुनाव अपनी सुविधा के अनुसार कर सकता है। व्यर्थ पदार्थों का भी उपयोग कर अपनी कलाकृतियों को बना सकता है। इस कला के माध्यम से कलाकार अपना कोई भी संदेश दर्शकों तक पहुँचा सकता है। कभी-कभी इसकी क्षणभंगुरता इसके लिए सकारात्मक प्रभाव देती है, जिसकी वजह से इसे अधिक दिनों तक संभाल कर रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कुछ कलाकार इस कला का उपयोग एक सनकी के रूप में करते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित कला समाज पर क्या प्रभाव डालेगी, इसका भी उन्हें ख्याल नहीं होता। उदाहरण स्वरूप एक कलाकार भ्रामक स्थिती को बनाये रखने के लिए एक कैंवास को खाली छोड़ देता है और उसका शीर्षक "एक्सटेसि" रख देता है। वहीं एक अन्य कलाकार एक पाषाण को बिना काटे मूल रूप में पेश कर उसे "प्यूरिटी" शीर्षक देता है। 2007 में कोडिस गैलेरी ने हैबकाक का संस्थापन "एक्सपोजिशन न. 1" प्रदर्शित किया जो एक परफार्मेंस की शक्ल में था। इसमें एक भूखे कुत्ते को एक चैन से तब तक बाँधा गया जब तक कि उसके प्राण न निकल गये। इस प्रकार के सनकी कलाकार कला के नाम पर मानव के साथ साथ जानवरों के ऊपर भी अत्याचार और घृणित काम करते हैं। एक और सनकी कलाकार का उदाहरण लें

नो 2008 के याकोहामा त्रिनाले में विएना के बुजुर्ग कलाकार हर्मन नीश की कृति। जो एक कमरे में संस्थापन का प्रदर्शन था, जिसमें कैनवास पर खून की बौछार और सामने दीवार पर गाय, बकरी मांस के लोथड़े, खून के बीच आदमी की देह के परफार्मेंस के चित्र प्रदर्शित किये गये। यह कलाकार अपने घृणित संस्थापन और परफार्मेंस के लिए दुनिया भर में जना जाता है फिर भी कला के ठेकेदार आँख बंद कर सब कुछ देखते रहते हैं।



कलाकार शिल्पा गुप्ता के संस्थापन

संस्थापन कला में त्रुटियों के बावजूद यह कला अपने अनोखे रूप के कारण काफी आकर्षक का केन्द्र बना हुआ है। आज हम संस्थापन कला के नकारात्मकता के पहलूओं को छोड़ दे तो इसमें ऐसे अनेक तथ्य हैं जो समकालीन कला के महत्त्व को बल प्रदान करती है। संस्थापन में नये नये माध्यम और नये नये खोज कला में एक नयापन बनाये रखता है। इस कला को अपनाने वाले कलाकार कम हैं, पर इसके प्रभाव से अन्य कलाकार जो इससे दूर हैं वे भी प्रभावित हो रहे हैं। वे भी इस कला को करना चाहते हैं। कुछ कलाकार तो अपने पारम्परिक माध्यमों के साथ साथ इस कला में भी कार्यरत हैं। आने वाले समय में संस्थापन कला अपने अनोखे रूप के कारण अत्यंत लोकप्रिय होगी और कला के क्षेत्र में इसमें संभावनायें भी अधिक हैं। आज के युवा कलाकार अपनी सोच को पुराने माध्यमों में बाँधकर नहीं रखना चाहती। उन्हें एक मुक्त माध्यम की आवश्यकता है जिससे वे अपनी कला को एक नई ऊँचाई प्रदान कर सके। संस्थापन कला एक ऐसा ही सशक्त माध्यम है।

संदर्भ सूचि :

समकालीन कला, वृहद आधुनिक कला, कला भारती : खण्ड दो, कला दीर्घा

CHALO INDIA (A new era of Indian art) : Page 78-79, same pages 132-133, ARTETC Vol.1 No.- 1 June 2009, page 84-89, INDIA PERSPECTIVE Vol. 24 No. 6/2006 Pages 132-135, guide to 101 Modern & Contemporary JOURNEY'S Four Generations of Indian Artists in their Own Words. Volume II Yashodhara Dalmia First published 2011 CHALO INDIA A new era of Indian art Contemporary art in India A perspective Pran Nath Mago First edition 2001 Face of Indian Art Through the lens of alive gallery First published 2007 Published by- Art Alive Gallery Video ART in India Apeejay Media Gllery, New Delhi ART & DEAL

सभी छायाचित्र वीथिका और इंटरनेट द्वारा लिये गये हैं।

बंगाल शैली—स्वदेशी की अवधारणा

राजेन्द्र प्रसाद*

जहाँ सृजन—प्रक्रिया चर—अचर, सभी लोकों से संवाद स्थापित करती हुई विकसित होती है, वहाँ कला के माध्यम से ही मनुष्य अपने और सृष्टि के बीच की अलंघ्य चुप्पी की खाई को पाट पाता है।

आज हमारे देश में, कला को लेकर, प्रतिबद्धता, परम्परा, आधुनिकता, देशज—दृष्टि—ऐसे ही अनेक प्रश्नों पर बहस चलती है। नवजाग्रत राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम अपने को किसी न किसी तरह देश के गौरवशाली अतीत से जोड़े।¹

भारत की स्थापित चित्रकला शैलियों में बंगाल चित्रकला शैली की एक विशिष्ट पहचान ही नहीं, उसका ऐतिहासिक योगदान भी है। इस शैली का उद्भव बंगाल की परम्परागत कलाओं के साथ एक नई कला चेतना के समुचित तालमेल से हुआ था। बंगाल शैली की विशेषता इस बात में थी कि किसी कला आन्दोलन या अभियान की शक्ल में इसका स्वर या स्वरूप तय नहीं हुआ बल्कि यह कलाकारों के साथ कला प्रेमियों की सम्मिलित कलाचेतना से अभिव्यक्त और अभिषिक्त कला शैली थी।

‘राष्ट्र’ और ‘स्वदेशी’ की अवधारणाओं के आलोक में हर कला कर्म को कलाकार की निजता के साथ—साथ ‘भारतीयता’ से सम्बद्ध करने का अनुरोध केवल देशी प्रेरणा से ही सम्भव नहीं हुआ था, उसमें लेडी हेरिंघम, ई.वी. हैवेल और सिस्टर निवेदिता जैसी आइरिश कला मर्मज्ञ की अनुप्रेरणाएं भी कार्य कर रही थी। यही कारण था कि भारतीय साहित्य में सदियों से स्वीकृत आख्यानमूलक गाथाओं, उपकथाओं के अंकन का प्रयास तेजी से हुआ। और बंगाल शैली के पुरोधा और प्रवर्तक के नाते इस प्रयास को अपने पौरोहित्य से संस्कार और स्वीकृति दिलाने वाले थे— अवनीन्द्रनाथ ठाकुर (1871—1957)² इन्हीं की सहायता से दस साल के अन्दर ही एक ‘स्वदेशी शैली का निर्माण हुआ जो पूर्णतया भारतीय परम्पराओं पर आधारित थी जिसका नाम ‘बंगाल शैली’ पड़ा।

श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर की अध्यक्षता में एक बंगाली चित्रकारों की टोली ने मुगल, राजपूत तथा अजन्ता आदि की चित्रकला का अध्ययन करके एक नवीन परम्परागत भारतीय शैली को जन्म दिया तथा एक जागृति पैदा की।³ श्री हैवेल तथा श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने जिस क्रान्ति का बीड़ा उठाया था वह केवल भारतीय कलाकारों में भारतीयता के बीज बोने के लिये ही था जिसमें वे सफल भी हुए।⁴ हैवेल के विश्वास — भारतीय कला जीवित एवं मौलिक है, ने अवनी बाबू को बल प्रदान किया। इस प्रकार हैवेल ने जिन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया उनको टैगोर के द्वारा प्रयोगात्मक रूप मिला।

भारतीय कला के अध्ययन हेतु कलाकारों का दल अजन्ता, बाघ तथा अन्य कला तीर्थों में भ्रमण करने गया जिससे इस दल के चित्रकारों ने अपने देश की

* सहायक आचार्य, चित्रकला, विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कला का स्वरूप पहचाना। इन चित्रकारों ने अनेक प्राचीन चित्रों की अनुकृतियाँ भी बनाई।

बंगाल से इस प्रकार एक नवीन कला जागरण की लहर तो फैली परन्तु इसकी कदाचित कल्पना नहीं की जा सकती थी कि आगामी वर्षों में इसका विस्तार होगा। इस नवीन जागरण के साथ ही भारतीय और नितान्त भारतीयता पर अधिक बल दिया जाने लगा जो सदैव एक आलोचना का विषय रही है। परन्तु ज्यों-ज्यों कला विद्यालयों की स्थापना होती गई और कला शिक्षकों की माँग होती गई त्यों-त्यों इस स्कूल का प्रसार होता गया।¹ जहाँ-जहाँ बंगाल स्कूल के चित्रकार पहुँचे, वहाँ-वहाँ वह अपना कार्य क्षेत्र बनाते गये। कला की यह पुनर्जागृति बंगाल से प्रारम्भ होकर भारत के हर कोने में फैल गई। बम्बई, मद्रास, दिल्ली, पंजाब, गुजरात, लखनऊ, जयपुर, हैदराबाद आदि स्थानों में मुख्य रूप से कला केन्द्र खोले गये। इसी सन्दर्भ में सन् 1907 में ई.वी. हैवेल, गगनेन्द्र नाथ टैगोर तथा अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने 'दी इण्डिया सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट्स' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परम्परागत चित्रकला को प्रोत्साहित करना था।¹

अवनी बाबू ने जिस कला आन्दोलन को चलाया उसमें रेखांकन व रंगों के प्रयोग की खोज एकदम नयी थी। इसी से प्रभावित होकर हैवेल और कुमारस्वामी ने जो कुछ लिखा उससे उस 'स्वदेशी कला' को बल मिला।⁷

इस समय पल्लवित 'बंगाल शैली' के चित्रों के विषय-धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, सामाजिक व पशु-पक्षियों से सम्बन्धित थे, जो पूर्णतया भारतीयता से ओत-प्रोत थे।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'बंगाल शैली' ने भारतीय संस्कृति एवं कला को पुनश्च फलने-फूलने का मौका दिया, जो चित्रकला इतिहास में सदैव 'स्वदेशी आन्दोलन' के रूप में याद की जायेगी। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि बंगाल शैली ने 'स्वदेशी की अवधारणा' को जिन्दा रखा।

सन्दर्भ सूची

1. शुक्ल, प्रयाग; कला समय समाज, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, 1979 पृ. 7
2. जोशी, ज्योतिष; समकालीन कला, नई दिल्ली, 2002 (अंक 22) पृ. 43
3. शर्मा, लोकेश चन्द्र; भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, मेरठ, 1970, पृ. 144
4. शर्मा, लोकेश चन्द्र; भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, मेरठ, 1970, पृ. 100
5. गैरोला वाचस्पति; भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, 1963, पृ 246
6. शर्मा लोकेश चन्द्र; भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, मेरठ, 1970, पृ. 144
7. अग्रवाल, आर.ए.; कला विलास (भारतीय चित्रकला का विवेचन), मेरठ, 2015, पृ. 190

महिला सशक्तिकरण की अभिव्यक्ति चित्रकार विकास भट्टाचार्य जी के चित्रों के माध्यम से

रुचिका श्रीवास्तव*

प्रस्तावना

पुराने समय से ही महिलायें अपनी भवनाओं को विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त करने में सक्षम रही हैं। परन्तु महिलाओं की सक्षमता का वर्णन पूर्ण रूप से कहीं भी किसी भी प्रकार की मौखिक अथवा लिखित रूप में नहीं मिलता है, महिलाओं के कार्यों को समाज में कभी भी कहीं भी प्रधानता नहीं दी गई है, गृह कार्यों को उनका कर्तव्य और उनकी कौशल को उनकी रुचि का नाम दिया गया। हमारे देश में महिलाओं की भागिदारी पुरुशों के बराबर ही है परन्तु पुरुश प्रधान देश होने के कारण महिलाओं की भागीदारी हो वह स्थान नहीं दिया गया जो कि उनको मिलना चाहिये था।

कला की दुनिया में, विशेष रूप से चित्रकला की बात की जाये तो हम स्वयं देख सकते हैं कि जितनी जानकारी हमें चित्रकला के इतिहास में पुरुष कलाकार की मिलती है उसकी गिनती में महिला कलाकारों का जानकारी आधी भी नहीं होती। ऐसा नहीं है कि उस समय में महिला चित्रकार नहीं रही होंगी, अवश्य रही होंगी परन्तु शायद उनके चित्रण कार्यों को उतनी प्रधानता नहीं दी गयी होंगी जितनी की उनको मिलनी चाहिये थी।

चित्रकला ही नहीं वरन् दैनिक जीवन के कार्यों में भी देखें तो महिलाओं के कार्यों को उतनी अहमियत नहीं दी जाती जितनी की पुरुष के कार्यों को दी जाती है। महिलाओं का यह कार्य गृहस्थ जीवन से हो या फिर व्यवसायिक जीवन से ही क्यों न हो, उनके अस्तित्व हमेशा को नकारा जाता रहा है।

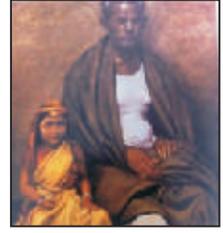
आज के बदलते समाज में महिला सशक्तिकरण की आवश्यकता ही शायद इसीलिये पड़ी क्योंकि उनकी उन्नती जरूरी थी, और इसका परिणाम यह हुआ है कि महिलायें गृहस्थी के साथ साथ बाहर की दुनिया में भी पूर्ण रूप से सहयोगी हो गयी। महिलाओं की इसी शक्ति, क्षमता को मैंने चित्रकार बिकास भट्टाचार्यजी के चित्रों में देखा है।

चित्रकार बिकास भट्टाचार्य जी बंगाल के उन यथार्थवादी चित्रकारों में से एक हैं जो की अपने चित्रों के विशेष विषयों के लिये जाने जाते हैं। उनके चित्रों में महिलाओं का चित्रण विशेष रूप से किया गया है। बिकास भट्टाचार्य जी ने महिलाओं के दैनिक जीवन के कार्यों को लेकर बहुत से चित्र बनाये हैं। उनके चित्रों के विषयों में कई चित्र श्रृंखला महिलाओं की उन्नती, शक्ति, क्षमता व जागरुकता को लेकर बनाई है।

बिकास भट्टाचार्य जी ने जहाँ अपने चित्रों में अबोध बालिका को बालिका वधु के रूप में चित्रित किया है वहीं उन्होंने किसी महिला को त्रीनेत्र धारी दुर्गा के रूप में भी चित्रित किया है। ठाकुर मथुरादास नामक इस चित्र में बिकास भट्टाचार्य जी ने एक अधेड़ उम्र के पुरुष के

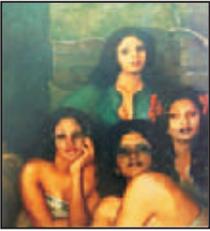
* शोध छात्रा, चित्रकला विभाग हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर गढ़वाल उत्तराखण्ड

साथ एक अबोध बालिका वधू को चित्रित किया है। जो कि उसकी बेटी से भी कम उम्र की समझी जा सकती है। इस चित्र में हम पुराने समय की बालविवाह की प्रथा को देख सकते हैं जब बच्चियों का विवाह उनकी कम उम्र में कर देते थे।



ठाकुर मथुरादास
1982

पेंटिंग ठाकुर मथुरादास या बालिका वधु में भी कैमरे की आँख का काम करती नजर आती हैं, पर विषय की प्रस्तुती उसका झामा अक्सर बिकास के इन चित्रों को अविस्मरणीय बना देता है। बिकास किसी झोपड़ पट्टी की जमुना और कमला से शुरू होकर मारवाडी सेठ की गहनों से लदी स्त्री या उच्च मध्यमवर्ग की आधुनिकता को अपने चित्रों का विषय बनाते हैं, तकनीकी क्षमता उनमें है ही। प्रस्तुति की नाटकीयता, उसका खास कोण या क्षण इन विषयों को कला अनुभव में बदल देता है।¹¹

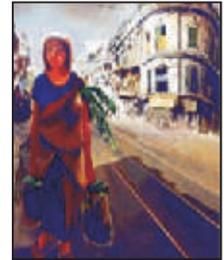


एन इवनिंग सीजन
1980

बिकास भट्टाचार्यी का रंग कौशल चमत्कारिक रहा। उनकी तुलिका कैनवस की सीमा को अतिक्रमण करती रही। सघन रंगों के संयोजन से लगातार विस्फोटक विषयों को उठाते बिकास की कला यात्रा जिन-जिन पड़ावों से गुजरती रही, वहाँ अन्य बहुत से कलाकारों की पहुँच ही नहीं रही। यही कुशलता उन्होंने व्यक्ति चित्रों में भी दिखाई जिसमें प्रतिकृति के साथ-साथ व्यक्ति के आन्तरिक भावों और बुनियादी प्रवृत्तियों का गहरा साक्ष्य है। यह तथ्य हैरान करने वाला है, कि बिकास ने भद्र बंगाली हाने के मिथ को तोड़ते हुवे दुर्गा को भी 'वन कन्या' के रूप में चित्रित

किया है। उसके माध्यम से स्त्री-शोषण की नियति को अंकित किया।¹² एन इवनिंग सीजन नामक पेन्टिंग में आप स्त्री शोषण की छवि को हम देख सकते हैं।

वूमेन इन हवाई चप्पलस नामक इस चित्र में स्त्री को बाजार से सामग्री लाते हुवे दिखाया गया है, इस आकृति में नारी को हर तरह से कर्मठ दिखाया गया है, इसके पांव में हवाई चप्पल दिखाया गया है, व सड़क के किनारे चलते हुवे सामान्य वेश-भूषा में चित्रित किया गया है। स्त्री के चित्र के पीछे बड़ी-बड़ी इमारते व बाजार का दृश्य चित्रित किया गया है।



वूमेन इन हवाई
चप्पलस

यह चित्र अब नारी को गृहस्थ कार्यों के साथ साथ बाजार के कार्यों को भी करते हुवे दिखाया गया है। इस चित्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्त्री बाजार से सामान की खरिदारी कर के आ रही है।



मदर टेरेसा 1977

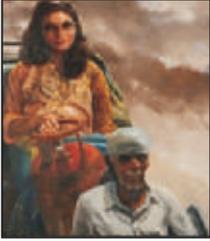
महिला सशक्तिकरण का यथार्थ उदाहरण देने के लिये बिकास भट्टाचार्यजी की मदर टेरेसा, इन्दिरा गाँधी नामक चित्राकृतियों नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। चित्रकार बिकास भट्टाचार्यजी द्वारा कागज पर स्याही से व लकड़ी पर कोयले से बनायी गयी मदर टेरेसा

का चित्र बंगाल में शक्ति व एक सी मानवता को दर्शाता है। इस चित्र को बड़ी ही खूबसूरती के साथ चीनी स्याही से बनाया गया है।³

1988 में बनी इन्दिरा गाँधी की बनी खड़ी अवस्था की कृति स्पष्ट उदाहरण है।⁴ यह तो जगत विख्यात बात है कि इन्दिरा गाँधी को पूरे विश्व में शक्ति व अपने साहस के लिये जाना जाता है।



इन्दिरा गाँधी
1988



लेडी विद गैस सिलेण्डर

“1980 में कोलकाता के चित्रकार बिकास भट्टाचार्यजी ने चित्रकला में चल रही चित्रण प्रथा को तोड़ते हुवे नई प्रथा को अपनाया। जिसके लिये उन्होंने कोलकाता में रहने वाले नागरिकों के दैनिक जीवन के दृश्यों को अपने चित्राकृतियों के विषयों के लिये चुना हैं। इसके की लिये उनकी कृति लेडी विद गैस सिलेण्डर प्रसिद्ध है।⁵

1980

इस चित्र में बनी स्त्री के वस्त्रों व हाव भाव को देखकर हम यह कह सकते है कि इस चित्र की स्त्री गृहणी होने के साथ साथ दफ्तर में काम करने वाली महिला भी है, और यह स्त्री अपने दोनो कर्तव्यों को निभाना जानती है।

बिकास भट्टाचार्यजी ने स्त्रीयों का समुह बैठा हुआ दिखाया है ऐसा प्रतीत होता है जैसे की यह किसी आफिस का दृश्य है, और इस आफिस में ये स्त्रीयां अपनी बात मनवाने के लिये आयी है इन स्त्रीयों में एक महिला इन सब स्त्रीयों की मुखियाँ प्रतीत होती है। स्त्रीयों के सामने मेज बनायी गयी है और इस मेज पर कुछ फाइलें पड़ी हुयी है। ये सभी महिलायें उच्च व धनी परिवार से सम्बन्धित प्रतीत हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानों यह सभी स्त्रीयों राजनैतिक क्षेत्र में भी अपनी हिस्सेदारी लेने पहुँची है।



अतः इस प्रकार से हम कह सकते है कि चित्रकार बिकास भट्टाचार्यजी ने अपनी चित्रों में महिला सशक्तिकरण को प्रमुख स्थान दिया है। उन्होंने पुरुष के कार्यों के समान ही महिलाओं के कार्यों को भी प्रमुखता देते हुए महिलाओं की भागीदारी समाज का नव निर्माण करने में बराबर माना है।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारद्वाज, विनोद बृहद आधुनिक कला कोष, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ0 सं0— 168
2. Mukhopadhyay Amit, Bikash Bhattacharjee 1940-2006, Ece Emami Chisel Art, Kolkata, published in 2009, page no 87-89
3. <http://www.thecityreview.com/s10sind.html>
4. http://theindianartnews.blogspot.in/2007_03_01_archive.html
5. <http://www.hawthornehotelblog.com/2013/01/upcoming-new-exhibit-at pem.html>

संगीत शिक्षण के स्वरूप में नवीन प्रयोग

डॉ. महेश चन्द्र पाण्डे*

भारत वर्ष में संगीत शिक्षण प्राचीनकाल से लेकर किसी न किसी रूप में दी जाती रही है। वैदिक काल में संगीत का बहुत प्रचार था सामवेद संगीत विषय का मूल वेद माना गया है। सामवेद से ही सामगान की उत्पत्ति हुई। वैदिक काल में सप्त सुस्वरों की उत्पत्ति हो चुकी थी तथा इसमें शिक्षण प्रशिक्षण होता था। मंतग के काल तक मार्गी एवं देशी संगीत का प्रचलन हो गया था। मार्गी संगीत कड़े नियमों में बंधा हुआ मोक्ष प्राप्ति के लिए था तथा देशी संगीत मनोरंजन हेतु निरन्तर परिवर्तनशील था। भरतकृत नाट्यशास्त्र में छः अध्यायों का संगीत से सीधा सम्बन्ध है। इस समय संगीत का शिक्षण गुरु शिष्य परम्परा के अन्तर्गत होता था। संगीत शिक्षक के लिए कोई विद्यालय उपलब्ध नहीं था। गुरु के घर पर जाकर ही शिक्षा ग्रहण की जाती थी।

आधुनिक समय तक संगीत शिक्षा विभिन्न संगीत संस्थानों एवं विद्यालयीय संगीत शिक्षा के रूप में परिवर्तित हो चुकी है। भारत वर्ष में सर्वप्रथम 5 मई, 1901 ई० को लाहौर में संगीत विद्यालय के रूप में गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना हुई। जिसकी स्थापना पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी द्वारा की गई। सर्वप्रथम विद्यालयीय शिक्षा के रूप में संगीत शिक्षण इसी महाविद्यालय से प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त 1940 ई० तक कई अन्य संगीत विद्यालयों की भी स्थापना हो गई जिनमें— म्यूजिक कॉलि, कलकत्ता, व्यास संगीत विद्यालय, मुम्बई, भातखंडे संगीत विद्यापीठ (मैरिस कालेज), लखनऊ, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद, माधव संगीत विद्यालय, गाँधी संगीत विद्यालय, कानपुर आदि प्रमुख हैं।

वर्तमान समय में विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ सामाजिक जीवन व उनकी संस्कृति व कला सभी पक्ष प्रभावित हुए हैं। इसके फलस्वरूप शिक्षा में भी नवीन प्रयोग हुए हैं तथा नवीन शिक्षण विधियां भी विकसित की गई हैं। वर्तमान समय में सभी क्षेत्रों में इतनी अधिक प्रगति होते हुए भी संगीत शिक्षण में इसका प्रभाव बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। इस शिक्षण विधि में बहुत कम अन्तर आया है। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर प्रमुख महाविद्यालयों को छोड़ अधिकतर में संगीत शिक्षण हेतु दृश्य श्रव्य सामग्री का अभाव है तथा अनेक समस्याओं के कारण इस प्रकार की सामग्री क्रय करना व उनका रख-रखाव भी कठिन होता है। इस बात से हम पूर्ण तरह सहमत हैं परन्तु कुछ मात्रा में इस प्रकार की सामग्री संगीत शिक्षक हेतु महत्वपूर्ण मानते हुए उपलब्ध कराई जा सकती है। इसके अतिरिक्त शिक्षण विधि में भी कुछ परिवर्तन किये जाने से संगीत शिक्षण को और अधिक प्रभावपूर्ण एवं रुचिपूर्ण बनाया जा सकता है। इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण एवं मूल बातों पर विचार करना होगा।

1. संगीत के प्रति अनुराग उत्पन्न करना
2. संगीत के आधार स्तम्भ 'स्वर' का पूर्ण प्रशिक्षण
3. बुद्धि का प्रशिक्षण प्रदान करना
4. वैज्ञानिक उपकरणों का प्रभावपूर्ण एवं उचित प्रयोग

* असिस्टेंट प्रोफेसर— संगीत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखेत (अल्मोड़ा) उत्तराखण्ड

1. संगीत के प्रति अनुराग उत्पन्न करना

विद्यालय की संगीत शिक्षा में संगीत के भावात्मक पक्ष को प्रधानता मिलना आवश्यक है। अधिकतर विद्यार्थियों को शास्त्र एवं क्रियात्मक पक्ष की ओर संलग्न करा दिया जाता है। इससे बच्चे संगीत की आत्मा तक नहीं पहुँच पाते तथा उनके रसास्वादन में उनके भावों का जो परिमार्जन होना चाहिए वह नहीं हो पाता। इसी कारण अधिकतर बच्चों में संगीत के प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगती है। शिक्षक का सबसे पहला उद्देश्य संगीत के माध्यम से विद्यार्थियों के हृदय का प्रशिक्षण करना होना चाहिए। इसी के फलस्वरूप में उच्च शिक्षा में एक ऐसा शिक्षार्थी प्रवेश करता है जिसके हृदय में संगीत के प्रति पहले से ही प्रेम उत्पन्न हो चुका होता है। विश्वविद्यालय स्तर पर भी शिक्षार्थियों को रागों में कई प्रकार की विशिष्ट बन्दिशों को सिखाना चाहिए। साथ ही इस दायित्व का निर्वहन उच्च शिक्षा में विभिन्न गायिकी की विशेषताओं एवं सौन्दर्यपूर्ण बन्दिशों के माध्यम से निरन्तर चलते रहना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम रोचक धुने लोग धुने रोचक गीत एवं सरल मधुर एवं भावपूर्ण बंदिशें सुनवाने पर विशेष जोर देना चाहिए। अर्थात् सर्वप्रथम प्रारम्भिक विद्यार्थियों के हृदय में संगीत के प्रति आकर्षण भरना होगा। इस प्रकार प्रयत्न करना होगा जिससे संगीत विद्यार्थियों के हृदय में संगीत के स्वयं मधुर भाव जागृत हो। शिक्षक द्वारा जिन बंदिशों को सिखाया जाना हो पहले उनका भाव एवं अर्थ स्पष्ट रूप से विद्यार्थियों के सम्मुख हो जाना चाहिए इससे विद्यार्थियों में सौन्दर्य बोध बढ़ता है। अधिकतर आज विद्यालयों में संगीत शिक्षक में हृदय को प्रशिक्षण करने वाला वातावरण नहीं मिलता। इसीलिए शिक्षकों का दायित्व प्रारम्भिक संगीत शिक्षक में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।

2. संगीत के आधार स्तम्भ 'स्वर' का पूर्ण प्रशिक्षण

संगीत मूल रूप से ध्वनि से जुड़ा हुआ है। संगीत शिक्षण के समय जब तक कानों की क्षमता ध्वनि के अन्तर को सूक्ष्म उतार चढ़ाव को, स्वर भेद को, लय की गति को पहचानने हेतु विकसित नहीं की जाती तब तक त्रुटियाँ होती ही रहती हैं। संगीत शिक्षक बच्चों में अलग-अलग स्वरों की ध्वनियों को पहचानने की श्रवण क्षमता का विकास होना आवश्यक है। बेसुरेपन का दोष केवल कंठ का दोष नहीं। यह कुछ मात्रा में विद्यार्थियों द्वारा स्वर की पहचान न होना भी है। विद्यालयों में संगीत के छात्र जब 'म' स्वर को 'प' स्वर को 'ग' के स्थान पर गाते हैं तो इसका स्पष्ट कारण यह है कि उनमें कानों से उन दोनों स्वर की ध्वनियों को पहचानने की क्षमता विकसित नहीं हो पायी है। हमारे संगीत में व्यक्तिगत रूप में गुरु शिष्य परम्परा द्वारा जो संगीत शिक्षण होता है उसमें स्वराभ्यास एवं रागों को वर्षों सिखाया जाता है। निरन्तर गुरु शिष्य की त्रुटियों को ठीक कराकर निरन्तर अभ्यास कराते रहते हैं। असंख्य बार स्वर एवं रागों की पुनरावृत्ति द्वारा तथा सुर भरने के अभ्यास से उनके अन्दर सही समझ पैदा हो जाती थी किन्तु विद्यालयीय संगीत शिक्षण में इस विधि से शिक्षण हो पाना व्यवहारिक रूप से सम्भव नहीं है। इसका कारण विद्यार्थियों की अधिक संख्या होना तथा मात्र एकही वादन में संगीत शिक्षण सम्पन्न होना है।

अतः सामूहिक प्रशिक्षण में सांगीतिक क्षमता उत्पन्न करने हेतु कुछ बातों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। सर्वप्रथम संगीत का आधार स्वर शब्द या सा स्वर की निश्चित

पहचान विद्यार्थियों को करवानी होगी। इसी सा स्वर से अन्य सभी स्वर जुड़े हुए हैं तथा उनकी एक निश्चित दूरी भी सा द्वारा ही निश्चित होती है। कई बार विद्यार्थी गाते समय म या प को सा समझ बैठते हैं इसके पश्चात धीरे-धीरे आरोह-अवरोह द्वारा अन्य स्वरों की ऊँचाई एवं निचाई बार-बार छात्रों से गवाकर स्पष्ट करानी चाहिए। विद्यालयीन शिक्षण में जब शिक्षार्थी को इन विशिष्ट प्रकार के अभ्यास से स्वरों की पहचान करा दी जाती है तब उच्च शिक्षा में प्रवेश लेने तक शिक्षार्थी का स्वर परिपक्व हो जाता है तथा विशिष्ट स्वर साधना के पश्चात दूसरे चरण में उसमें भाव प्रवणता का समागम होने लगता है। प्रारंभ में शिक्षार्थियों में कल्पना शक्ति एवं चिन्तन शक्ति के साथ विश्वविद्यालय स्तर में प्रवेश के समय रागों की गायिकी में शिक्षार्थी स्वयं अपनी कल्पना शक्ति से विस्तार करने में सक्षम हो जाता है।

इस प्रकार स्वरों की पहचान के मानसिक दृष्टि से जोड़ा जाए तो शिक्षण सरल हो जाता है। अनेक बार कुछ मॉडल बनाकर स्वरों की ऊँचाई निचाई तथा कोमल और शुद्ध स्वरों को सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। स्वरों की पहचान हेतु सामूहिक शिक्षण में दो समूह बनाकर प्रत्येक को कमल तथा शुद्ध स्वरों को एक के बाद एक उच्चारित करवाया जा सकता है। जैसे— एक समूह शुद्ध 'ग' तो दूसर कोमल 'ग' को लेगा। इससे श्रवण क्षमता एवं स्वर भेद क्षमता बढ़ाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त शिक्षण द्वारा विभिन्न स्वरों को लिखकर अलग-अलग विद्यार्थियों से इन में गाने का अभ्यास करवाया जा सकता है। लिखित सामग्री को गाने से विद्यार्थी का स्वयं का प्रयत्न भी सम्मिलित होकर शिक्षण सही दिशा में प्रदान करता है। स्वर के समान ही विभिन्न लयों का प्रशिक्षण ताली के माध्यम से सरलता से सम्भव हो जाता है। विश्वविद्यालय स्तर पर ताल के साथ शिक्षार्थी को विभिन्न रागात्मक स्वर समूहों का आभास निरन्तर कराना चाहिए तथा अन्य रागों में भी उसी के अनुसार विस्तार करने की कल्पनाशक्ति को जागृत कराने का प्रयास करना चाहिए। राग के प्रत्येक स्वर को आधार बनाकर विभिन्न स्वरों से उनका संबंध बताते हुए विभिन्न स्वर समुदायों को शिक्षार्थी के मस्तिष्क में उतारना चाहिए। जिससे अधिक समय तक बिना पुनरावृत्ति के राग विस्तार करना संभव हो जाता है।

3. बुद्धि का प्रशिक्षण

शास्त्रीय संगीत की औपचारिक कक्षाओं के प्रारम्भ में भावात्मक प्रशिक्षण के साथ बुद्धि प्रशिक्षण पर भी बल देना होगा। कल्पना शक्ति, चिन्तन शक्ति, राग का विश्लेषण करने की क्षमता बुद्धि प्रशिक्षण का ही अंग है। इसके लिए विद्यार्थियों के सम्मुख शिक्षक को भिन्न-भिन्न गायन विधाओं को प्रस्तुत किया जाना चाहिए। विभिन्न गायन विधाओं में चुने हुए रिकार्ड विद्यार्थी को सुनवाते हुए उनमें विशिष्ट गायन विधा जो विद्यार्थी सिखने जा रहे हैं, यह बताना चाहिए। इसके लिए श्रुत्य सम्बन्धित उपकरणों का प्रयोग अनिवार्य है। प्रत्येक राग की अपनी प्रकृति एवं स्वरूप होता है। राग में लगने वाले विशिष्ट स्वर समूहों, उत्तरांग एवं पूर्वांग को जोड़ने वाले स्वर समूह, न्यास के स्वर सम प्राकृतिक रागों से बचाव, अल्पत्व, बहुत्व राग के स्वरूप का निर्माण करता है। गुरु शिष्य परम्परा में राग के इन सभी तत्वों पर विशेष ध्यान देते हुए अनेक प्रकार के पलटों एवं सरगम का शिष्यों को निरन्तर बहुत समय का अभ्यास करवाया जाता है। निरन्तर अभ्यास से शिष्य की स्मृति में राग का प्रतिबिम्ब अमिट छाप ले लेता है तथा राग का मनन करते-करते नवीन कल्पना विकसित होने लगती

है। परन्तु विद्यालयों के संगीत शिक्षण में अल्प समय होने के कारण निरन्तर अभ्यास कराकर राग के विभिन्न तत्वों को कंठस्थ कराना बहुत कठिन है। कक्षाओं में कुछ समय सिखाने के पश्चात् विद्यार्थियों पर ही स्वयं सब कुछ कंठस्थ करने का भार छोड़ दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि राग की समझ विद्यार्थियों को सही ढंग से नहीं हो पाती तथा अनेक त्रुटियाँ होने लगती हैं।

अतः शिक्षकों का दायित्व है कि राग सिखाते समय राग का पूर्णतः विश्लेषणात्मक अध्ययन विद्यार्थियों को कराया जाय चाहे कम संख्या में ही राग सिखाये जाए। परन्तु जितने भी राग विद्यार्थी सीखे उनमें परिपक्व हो जाए इसके साथ-साथ शिक्षक को सुन्दर व घरानेदार बंदिशों का अध्ययन कराना चाहिए। वर्तमान समय में विद्यालयों के संगीत पाठ्यक्रम में योग परिवर्तन भी किया जाना चाहिए। एक दो रागों में सम्पूर्ण आलाप तान आदि से विस्तृत अध्ययन करवा वे अन्य रागों में सौन्दर्यपूर्ण बंदिशों के सिखाने का प्रावधान होना चाहिए। इससे विद्यार्थी बहुत अधिक लाभान्वित होंगे। संगीत शिक्षण में खेल विधि द्वारा भी बुद्धि का प्रशिक्षण किया जा सकता है। माध्यमिक कक्षाओं में रागों के विभिन्न तत्वों पर आधारित रोचक ढंग से खेल प्रतियोगिताएं कराई जा सकती हैं। इसमें कई समूह बनाकर प्रत्येक समूह के छात्र दूसरे समूह के छात्रों से राग की विशेषताओं से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्न पूछ सकते हैं। इस प्रकार खेल ही खेल में बहुत सी महत्वपूर्ण बातें विद्यार्थियों को याद हो जाती हैं। इसी प्रकार संगीत शिक्षक पाठ्यक्रम से सम्बन्धित विभिन्न रागों के स्वर समूह गाकर विद्यार्थियों से अलग-अलग रागों के नाम पूछ सकते हैं। शुद्ध तथा कोमल स्वरों को छोटे-छोटे स्वर पूंजों के रूप में आकार में गाकर विद्यार्थियों से उन स्वरों के नाम भी पूछे जा सकते हैं। इस प्रकार बच्चों में रुचि उत्पन्न होती है तथा संगीत विषय को और प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि थोड़े प्रयत्नों के द्वारा विद्यालयों की संगीत शिक्षण पद्धति को रुचि पूर्ण, प्रभावपूर्ण, भावी कलाकार निर्माण हेतु बनाया जा सकता है।

4. वैज्ञानिक उपकरणों का प्रभावपूर्ण एवं उचित प्रयोग

समाज की प्रत्येक गतिविधियों में आज वैज्ञानिक उपकरणों का स्थान महत्वपूर्ण हो चुका है संगीत शिक्षण भी इससे अछूता नहीं रहा है। संगीत के क्षेत्र में नवीन प्रयोग एवं वैज्ञानिक पद्धति के विकास की आवश्यकता को देखते हुए दृश्य, श्रव्य सामग्रियों का विकास संगीत शिक्षण को रोचक, मनोवैज्ञानिक एवं प्रभावपूर्ण बना रहा है। संगीत शिक्षण के क्षेत्र में नवीन प्रयोग एवं वैज्ञानिक पद्धति के विकास को आवश्यकता देखते हुए दृश्य श्रव्य सामग्रियों का विकास संगीत शिक्षण को रोचक, मनोवैज्ञानिक, प्रभावपूर्ण बना सकता है। वैज्ञानिक प्रगति से जीवन की गति में तीव्रता आ गयी है। विज्ञान की ही देन है कि जो विद्वान कलाकार हमारे मध्य नहीं रहे उनकी कला का भी रसास्वादन हम ध्वनि मुद्रण (रिकार्डिंग) द्वारा कर सकते हैं। संगीत शिक्षण के क्षेत्र में आज पर्याप्त मात्रा में इलैक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग होने लगा है, जैसे— इलैक्ट्रॉनिक तानपूरा, तबला, लहरा, स्वर मापने का यंत्र, पारम्परिक वाद्य यंत्रों के मिलाने हेतु इलैक्ट्रॉनिक ट्यूनर इत्यादि। इसके अतिरिक्त दूरदर्शन, आकाशवाणी, इन्टरनेट ने भी इस दिशा में विशेष सहायता प्रदान की है। अनेक प्रकार के इलैक्ट्रॉनिक यंत्र जैसे सीडी प्लेयर, कम्प्यूटर, रिकार्डिंग मशीन, एमपी-3 प्लेयर यहाँ तक की

मोबाइल फोन इत्यादि वैज्ञानिक उपकरणों के प्रभाव का संगीत शिक्षण क्षेत्र में सराहनीय योगदान है, इसके फलस्वरूप लोक, सुगम तथा शास्त्रीय संगीत सामान्य जन तक पहुँच गया है। संगीत का सामान्य ज्ञान जन समाज में बढ़ रहा है परन्तु शिक्षण के उद्देश्य से विचार किया जाय तो यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि संगीत विषय में जो विद्यार्थी सहजता से उसे समझ ले तथा उसमें से अधिक ज्ञान ले सके जिस प्रकार अन्य प्रायोगिक विषयों में अपनी प्रयोगशाला होती है तथा जिस तरह सैद्धान्तिक विषयों के लिए पुस्तकालय में पुस्तकों की भरमार होती है इसी प्रकार संगीत विषय के लिए समुचित व्यवस्था विद्यालयों में नहीं है। संगीत विषय का वादन छोटा होता है तथा उसमें भी सामुहिक शिक्षण करना पड़ता है। अतः विद्यार्थियों की संगीत शिक्षा हेतु इस प्रकार की सहायक सामग्री विद्यालय में उपलब्ध करना अनिवार्य है जिससे शिक्षण के पश्चात अतिरिक्त सहायता भी प्राप्त हो सके। इस हेतु अनेक संगीत शास्त्रियों द्वारा विभिन्न प्रयोग भी किये जा चुके हैं। इसमें विभिन्न प्रकार की दृश्य-श्रव्य सामग्री उपलब्ध करके उनके सीखने में प्रभाव को देखा गया।

श्रव्य दृश्य सामग्री के अन्तर्गत रागों से सम्बन्धित अनेक रिकार्ड बनाये जा सकते हैं जिसमें पाठ्यक्रम से सम्बन्धित रागों का शास्त्रीय विवरण रोचक ढंग से कथा रूप में प्रस्तुत किया गया हो इसमें विभिन्न रागों की बंदिशों का संकलन तथा पुराने एवं नये प्रसिद्ध गायक वादक कलाकारों की रचनाएं उपलब्ध हैं। रागों पर आधारित अनेक गीत व भजन भी इसमें उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त संगीत में अभ्यास से सम्बन्धित दृश्य रिकार्ड होने चाहिए जिसमें अभ्यास सम्बन्धी विधियों एवं प्रयोगों की जानकारी हो। स्वर संस्कार अथवा वॉयस कल्चर पर भी आधारित अभ्यास पद्धति उपलब्ध होनी चाहिए।

निष्कर्ष

सौन्दर्य एवं रस के प्रति विशेष रूप से सभी मनुष्यों का अनुराग होता है। इससे व्यक्ति व्यापक अभिरुचि पूर्ण हो जाता है। इस दिशा में संगीत तथा अन्य ललित कलाओं का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसा विषय है जिसमें सन्तुलन, कल्पना, स्वाभाविकता, आत्मनिर्भरता, आत्मनियंत्रण, गति तथा अनेक गुण समाहित हैं। संगीत के माध्यम से बालक में शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न की जा सकती है। इसी कारण अनेक शिक्षाविदों ने शिशुओं की शिक्षा में संगीत को अनिवार्य स्थान दिया है। विभिन्न तत्वों को टूस-टूस कर बच्चों के मस्तिष्क में भरना शिक्षा नहीं है। बुद्धि प्रधान विषय जैसे अंग्रेजी, गणित, विज्ञान आदि के साथ आध्यात्म को बढ़ाने वाले तथा हृदय को प्रशिक्षित करने वाले विषय भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने परम आवश्यक हैं। विद्यालयों में संगीत शिक्षण मात्र संगीत का ज्ञान करवाने के लिए नहीं है साथ ही संगीत विषय का जो पाठ्यक्रम है। वह मात्र विषय में अंक प्राप्त करने एवं उत्तीर्ण होने के लिए नहीं है। वरन बच्चों को भावात्मक शिक्षा तथा उनके समग्र व्यक्तित्व के विकास के लिए है। विश्व के अनेक शिक्षाशास्त्री भी आज इस बात से पूर्णतः सहमत हैं। संगीत की शिक्षा से विद्यार्थियों में जो भावों का परिमार्जन होता है वह महत्वपूर्ण है।

हमारे देश में संगीत शिक्षण हेतु इस प्रकार के विचार एवं भाव का आभाव है। यहाँ तक संगीत शिक्षक भी इस प्रकार से संगीत शिक्षण के महत्व से अनभिज्ञ हैं। इसका परिणाम यह

है हमारे विद्यालयों में आयु और कक्षा वर्ग के अनुसार जिन रागों तथा विशिष्ट संगीत पाठ्यक्रम का चुनाव होना चाहिए वह बहुदा अवैज्ञानिक है तथा बाल मनोविज्ञान के आधार पर भी खरा नहीं उतरता। व्यक्तित्व धरानेदार शिक्षा देने वाले संगीत के उस्तादों की दृष्टि में तो विद्यालयों में संगीत शिक्षण ही सम्भव नहीं है। उनके अनुसार संगीत एकान्त में गुरु के सम्मुख बैठकर ही सीखा जा सकता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि आज तक संगीत शिक्षण पद्धति में गुरु शिष्य परम्परा को ही आदेश माना जाता रहा है। परन्तु विचार किया जाए तो घराना पद्धति एवं विद्यालयी संगीत शिक्षा का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। पिछले तीन-चार दशकों में विद्यालयी संगीत शिक्षण परम्परा में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता अनुकरण पद्धति पर आधारित शिक्षा अरुचिकर और निरस होती जा रही है। संगीत जैसा सरस विषय सीखते हुए भी विद्यार्थियों में राग सम्बन्धी सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न नहीं हो जा रही है। विद्यालयीय संगीत शिक्षण में पाठ्यक्रम के रागों को बड़े सीमित रूप में सिखया जाता है। जबकि अनेक प्रकार से ज्ञान क्षेत्र को विस्तृत कर रागों को बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से सीखाया जाता है। विद्यालयों के शिक्षण में एक बड़ी कमी यह भी है कि सही अभ्यास पद्धति का अभाव है। इससे गले पर जोर पड़ सकता है तथा गायन में अरुचि उत्पन्न होने लगती है। इन सभी समस्याओं के निराकरण हेतु दृश्य श्रव्य सामग्री विकसित होना आवश्यक हो गया है।

महिला सशक्तिकरण के प्रति महात्मा गांधी का दृष्टिकोण

कीर्ति दुबे*

महिला व पुरुष दोनों ही समाज के महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ हैं। समाज के समुचित विकास हेतु दोनों की ही समान सहयोगिता अति आवश्यक है। वर्तमान पितृसत्तात्मक व्यवस्था के चलते महिला व पुरुष एक दूसरे के सहयोगी के स्थान पर प्रतिद्वंदी नजर आते हैं।⁽¹⁾ इसका प्रमुख कारण हैं, पुरुष का सर्वाधिकार एवं अहंकार का भाव, कि वह ही सर्वश्रेष्ठ है। पुरुष की यह प्रवृत्ति महिलाओं के अधिकारों का हनन करती है और समाज में उन्हें द्वितीय दर्जे का नागरिक बनाती है। यही कारण है कि आज भी महिला वर्ग को पुरुषों के समान स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने योग्य नहीं समझा जाता है। इसीलिये महिलाओं को अपनी स्वतंत्रता समाज में समानता व अपने अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। महिला सशक्तिकरण महिलाओं के अस्तित्व व उनकी स्वतंत्रता को पुरुषों के समान ही सम्मानपूर्ण बनाने की प्रक्रिया है। महिला-पुरुष अन्तर को समाप्त करने के स्थान पर लिंग के आधार पर भेदभाव करते हुए समाज में व्याप्त बुराईयों व पतन के लिये महिलाओं को उत्तरदायी ठहराया जाता है। यही धारणाएं व रूढ़ियां नारी को पुरुष पर निर्भर बनाती है। मैं महिलाओं की पूर्ण स्वतंत्रता की इच्छा रखता हूँ महिलाओं को हर छोटे बड़े कार्य में भाग लेने का पूर्ण अधिकार है। उन्हें भी पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता का अधिकार है।⁽²⁾ इस असमानता को दूर करने के प्रयासों को ही महिला सशक्तिकरण की संज्ञा दी जाती है अर्थात् महिलाओं को पुरुषों के समान स्वतंत्र रूप में समर्थ व सशक्त बनाने की प्रक्रिया महिला सशक्तिकरण है।

भारत में विभिन्न समाज सुधारकों ने 19वीं शताब्दी में समाज कल्याण के कार्य शुरू किये। 19वीं शताब्दी को भारत के पुनर्जागरण युग को संज्ञा दी जाती है। भारत में महिला सशक्तिकरण की आवश्यकता 19वीं सदी से महसूस की गई इस दिशा में प्रथमतः नवीन शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई। समाज में समान अधिकारों व स्थिति की प्राप्ति के लिये शिक्षण संस्थाओं के साथ—2 महिलाओं की जागरूकता प्रथम आवश्यकता है। महिलाओं को इस सामाजिक दुर्दशा से मुक्ति का रास्ता स्वयं तलाशना होगा। महिलाओं की आत्म जागृति के बिना उन्हें अपना विलुप्त सम्मान व अधिकार पुनः प्राप्त नहीं होंगे।

गांधी एक असाधारण आत्मा थे। वर्तमान विश्व में चारों तरफ असत्य, हिंसा, आतंकवाद जैसी समस्याएं पैर फैला रहीं हैं। मानवता निरंतर पतन की ओर बढ़ रही है। गांधी का सामाजिक दर्शन इन विषमता से पूर्ण स्थितियों में भी रामराज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करता है। गांधी के विचारों व प्रयोगों में ही समाज के सृजन का रास्ता हमें स्पष्ट दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति, परंपरा एवं जीवन मूल्यों को महात्मा गांधी ने अपने विचारों के द्वारा पुनः स्थापित किया। शायद ही कोई व्यक्ति होगा जिसके कार्यों को लगभग 100 खण्डों में भारत सरकार के द्वारा प्रकाशित किया गया हो।⁽³⁾

* एम. ए., एम. एड. लश्कर, ग्वालियर, म.प्र.

महात्मा गांधी ने जीवन भर सत्य का पालन किया। यह व्यक्ति को निडर व बहादुर बनाता है। शुद्ध सत्य सर्वव्यापी है। यह व्याख्या से परे है। सत्य ही ईश्वर है। वे जो सत्य को जानते हैं और उसका अनुगमन करते हैं। वे ही ईश्वर को पहिचान पाते हैं।⁽⁴⁾ अहिंसा को गांधी जी ने सबसे सशक्त हथियार की संज्ञा दी। अहिंसा ऐसी शक्ति है जिसे सब साध सकते हैं। “जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा की खोज की, वो न्यूटन से अधिक प्रतिभाशाली थे। वे स्वयं वेलिंगटन से भी बड़े योद्धा थे। शस्त्रों के प्रयोग का ज्ञान होने पर भी उन्होंने उसकी व्यर्थता को पहचाना और समस्त संसार को बताया कि उसकी मुक्ति हिंसा में नहीं अपितु अहिंसा में है।”⁽⁵⁾

सत्याग्रह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसकी वाह्य जगत में खोज नहीं करनी पड़ती। यह तो मानव में अंतर्निहित ऐसा गुण है, जिसमें “सत्य व अहिंसा के योग से तुम सारी दुनिया को अपने कदमों में गिरा सकते हो। सार रूप में सत्याग्रह और कुछ नहीं बल्कि राजनीतिक यानि राष्ट्रीय जीवन में सत्य और शालीनता की प्रतिष्ठा है।”⁽⁶⁾ सत्याग्रह और उसकी प्रसारवाएं असहयोग तथा सविनय प्रतिरोध, और कुछ नहीं बल्कि पीड़ा के ही नये नाम हैं।⁽⁷⁾

सत्याग्रह सत्य की अथक खोज और उस तक पहुंचने का दृढ़ संकल्प है।⁽⁸⁾ अपरिग्रह का सिद्धान्त बताता है कि हर व्यक्ति को सिर्फ उतना रखना चाहिये जितने की उसे जरूरत है। तो कोई अभावग्रस्त नहीं रहेगा और सब संतोष का जीवन जीएंगे।

हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति और हमारा स्वराज आवश्यकताओं को बढ़ाने—विषयाशक्ति पर नहीं, अपितु आत्मत्याग पर निर्भर है।⁽⁹⁾ सर्वोदय को अत्यावश्यक मानते हुए उन्होंने माना कि “अगर एक आदमी को आध्यात्मिक लाभ मिलता है तो उसके साथ सारी दुनिया का लाभ होता है, और अगर एक आदमी का पतन होता है तो उस सीमा तक सारी दुनिया का पतन होता है।”⁽¹⁰⁾ हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति और हमारा स्वराज आवश्यकताओं को बढ़ाने — विषयाशक्ति पर नहीं, अपितु आत्मत्याग पर निर्भर है।

वर्तमान में प्रचलित महिला सशक्तिकरण आन्दोलन को मुखर स्वर प्रदान करने का कार्य वास्तविक रूप में महात्मा गांधी द्वारा शुरू किया गया। महिला सशक्तिकरण को गति प्रदान करने हेतु गांधी जी ने अनेक रचनात्मक आन्दोलनों का सूत्रपात किया। उनका उद्देश्य सामाजिक रूढ़िओं व बुराइयों को जड़ से समाप्त करना था। नारी जाति के यथोचित सम्मान हेतु उन्होंने स्मृतियों में वर्णित उन श्लोको का विरोध किया जो नारी जाति के सम्मान पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। उन्होंने सदैव स्त्रियों को प्रेरित किया कि यदि वे उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहती हैं तो अपने अधिकारों के लिये उन्हें स्वयं संघर्ष करना होगा। समाज में समान अधिकार व सम्मान स्त्रियों का जन्म सिद्ध अधिकार है। स्त्रियों को उनके बल की पुर्नस्मृति कराते हुए उन्होंने कहा कि “पुरुष स्त्री से उत्पन्न होता है, उसकी मांस मज्जा से बना है। अपनी प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करो और अपना संदेश फिर सुनाओ।”⁽¹¹⁾

स्त्री को पुरुष की की अचल सम्पत्ति अथवा भोग्या न मानते हुए उन्होंने अहिंसा त्याग, समर्पण व सहनशीलता को साक्षात् देवी माना। उन्होंने कहा पुरुष सदियों से महिलाओं का शोषण करता रहा है। इसलिये महिलाएं हीन भावना का शिकार हो गई है।”⁽¹²⁾

इसके लिये महिलाओं को रानी लक्ष्मीबाई या दुर्गावती की भांति अपनी भीरुता का त्याग करना होगा। स्वयं ही अपनी स्वतंत्रता व अधिकारों की लड़ाई लड़नी होगी। महिला सशक्तिकरण की उपलब्धि सच्चे अर्थों में हासिल के लिए महिलाओं को स्वयं में अंतर्निहित शक्तियाँ यथा सत्यता, सहनशीलता अहिंसा का प्रयोग करना होगा। क्योंकि तब ही यह उपलब्धि भीतरी एवं वास्तविक होगी, वाह्य व दिखावटी नहीं महिला शक्ति को व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि शक्ति का तात्पर्य पाशविक शक्ति से है। तब निश्चय ही पुरुष की तुलना में महिलाओं में पाषविकता कम है और यदि शक्ति का अर्थ नैतिक शक्ति है तो स्त्री निश्चित रूप से पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।⁽¹³⁾

भारतीय महिलाओं को राजनीति से सक्रिय रूप में जोड़ने का कार्य प्रथमतः गांधी जी ने किया। महिला सशक्तिकरण की दिशा में महात्मा गांधी का अभूतपूर्व योगदान है। समाज में फैली विभिन्न बुराईयों यथा बाल विवाह, पर्दा प्रथा, बहुविवाह, भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, सती प्रथा, विधवा विवाह, हिंसा इत्यादि पर गांधी जी ने गहन प्रकाश डाला। महिला को पुरुष के समान बताते हुए उन्होंने कहा कि पत्नी पति की क्रीतदासी नहीं है, अपितु उसकी सहचरी और सहायिका है और उसकी खुशियों और गमों में बराबर की हिस्सेदार है—वह अपना रास्ता चुनने के लिये उतनी ही स्वतंत्र है जितना कि पति।⁽¹⁴⁾ उन्हें ऐसी किसी कानूनी निर्याग्यता का शिकार नहीं बनाया जाना चाहिए जो पुरुष पर लागू नहीं होती है। मैं बेटे व बेटियों के साथ बिल्कुल एक सा व्यवहार करना चाहूंगा।⁽¹⁵⁾ गांधी जी का विश्वास था कि महिलाओं की समस्याओं को मूल कारण उनकी अशिक्षा है। स्वयं के प्राकृतिक स्वरूप व शक्तियों को पहचानने के लिये उनका शिक्षित होना जरूरी हैं। बालक एवं बालिकाओं को शिक्षित करने हेतु साधनों की पृथकता पर उन्होंने जोर दिया।⁽¹⁶⁾ उनका मानना था कि महिलाएं पुरुषों की नकल करके अथवा प्रतिद्वन्दी बनकर राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान नहीं दे सकती।⁽¹⁷⁾ स्त्री व पुरुष प्रतिद्वन्दी न होकर पूरक है।

दहेज प्रथा व बालिका भ्रूण हत्या का गांधी जी ने विरोध किया। बालिका को भार ना मानते हुए उसके जन्म का भी बालक के समान स्वागत किया जाना चाहिए। बालिकाओं को भार स्वरूप मानने का कारण समाज में व्याप्त दहेज प्रथा है। जो कि मानव को लालची व क्रय विक्रय की वस्तु में बदल देता है। अतः दहेज प्रथा को जड़ से उखाड़ना होगा तभी महिला शक्ति स्वरूपा बन सकेगी। दहेज प्रथा को खत्म करने के लिए उन्होंने अर्न्तजातीय विवाहों पर भी बल दिया।

गांधी जी पर्दा प्रथा के पक्षधर नहीं थे। सतीत्व अथवा चरित्र की शुद्धता परदों अथवा दीवारों के माध्यम से थोपी जाने वाली वस्तु नहीं है यह तो व्यक्ति के भीतर से पैदा होने वाली भावना है। जब पुरुष के चरित्र अथवा पुरुषत्व पर कभी प्रश्न नहीं उठाया जाता तो स्त्री पर ही क्यों? ऐसे में स्त्री के चरित्र की निर्मलता को विनियमित करने का अधिकार पुरुष के हाथों में क्यों रहें? यह तो अन्दर से पैदा होने वाली चीज हैं इसलिये यह व्यक्ति के अपने प्रयास पर छोड़नी होगी।⁽¹⁸⁾

गांधी जी ने बाल विवाह का विरोध किया और यह सुझाव किया कि 18 वर्ष से पहले लड़की का विवाह नहीं होना चाहिए। 15 वर्ष से कम आयु की विधवा कन्याओं को उन्होंने अविवाहित ही माना और उनके पुनर्विवाह पर बल दिया।

स्त्रियों के माता-पिताओं का अपनी बेटियों का जबरन या बाल विवाह करना सरासर गलत है। शारीरिक व मानसिक रूप से योग्य (18 वर्ष) होने पर उन्हें स्वयं चुनने का अधिकार देना चाहिए। किसी के पिता को इस बात का अधिकार नहीं है कि बेटी द्वारा विवाह के लिए इंकार कर देने पर उसे घर से निकाल दे ऐसे में महिलाओं को अवांछित बंदिशों के विरुद्ध सविनय विद्रोह करने में कोई हानि नहीं है।

सती प्रथा का विरोध करते हुए उन्होंने इसे पवित्रता की पराकाष्ठा माना। यह पवित्रता जीवित रहकर सिद्ध की जा सकती है ना कि आत्महत्या करके। पवित्रता आत्महत्या में कदापि नहीं है अपितु सती सावित्री बनने में है इसके लिए आत्मा के विकास व स्वयं को जानने की आवश्यकता है।

महात्मा गांधी सही मायने में एक महापुरुष थे उनका दर्शन देश व काल की सीमाओं से परे है। उनके जीवन दर्शन को राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यह सार्वभौम है उन्होंने अपनी एवं आने वाली पीढ़ियों पर गहन प्रभाव छोड़ा है। क्योंकि उन्होंने आत्मा की शक्ति का सफलतम प्रयोग जीवन के हर क्षेत्र में किया इसके लिये स्वयं के चरित्र व आचरण की शक्ति को उदाहरण के रूप में जन सामान्य के सम्मुख पेश किया।

वर्तमान शताब्दी में महिलाओं की क्षमताओं को पहचानने का कार्य सर्वश्रेष्ठ रूप में महात्मा गांधी द्वारा किया गया। महिला का वास्तविक स्थान घर की रसोई अथवा चारदीवारी नहीं है। महिलाओं में निष्ठा, समर्पण, नैतिकता व जिम्मेदारी का भाव अपने उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है। इन सद्गुणों का सदुपयोग राष्ट्र के विकास हेतु करना चाहिए। इसके लिए प्रथम पहल महिलाओं को ही करनी होगी। यह गांधी दर्शन अपनाने अर्थात् वाह्य एवं आंतरिक रूप में सत्य व अहिंसा को धारण करने से संभव है। स्वयं स्त्री की इच्छा के बिना कोई उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता है। सभी बल जब निरुपाय हो वीरता और इज्जत के साथ मरने की कला सीखने के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती, इसके लिए केवल ईश्वर में जाग्रत विश्वास चाहिये।(19)

गांधी जी के विचारों का 21वीं सदी की नारी पर विशेष प्रभाव दिखाई देता है। आज बालक व बालिकाओं को समाज में (शत-प्रतिशत नहीं) लगभग समान दृष्टि से महत्व दिया जाता है। महिलाएं उच्च शिक्षा प्राप्त करने स्वयं निर्णय लेने में सक्षम हैं। उच्च पदों पर वे पुरुषों के समकक्ष हैं चाहे वे 26 जनवरी 2015 की गणतंत्र दिवस की परेड का नेतृत्व करने वाली पूजा ठाकुर हों अथवा पहली महिला आई.पी.एस. व मुख्यमंत्री पद की दाबेदार किरण बेदी। परन्तु उपस्थिति अब भी मुट्ठीभर ही है। बराबरी का दर्जा पाने में समय लगेगा। वह तभी संभव है जब महिलाएं पूर्ण रूप में गांधी दर्शन को समझेगी। उसे आचरण में महसूस कर पाएंगी।

संदर्भ सूची

1. Rajan Mohan” Women in Indian National Congress”, 1921-32 New Delhi 1999, pg.70
2. I personally desire utmost freedom of our women.she has the right to participate in the minutest details of the activities of men and she has the same right of freedom and liberty as men.
2. M.K. Gandhi, “Satyagrah in South Africa”, Ahamadabad 1928 pg. 266
3. V. Sivaramakrishnan (Ed.) M.K. Gandhi in cultural heritage of India. Rajendra Prasad Institute of communication and Management, Bombay 1991, pg. 63
4. Pure truth is omnipresent, it is beyond description, it is god. Those who know the truth and follow it by action and conduct identifies god.
4. विश्व प्रकाश गुप्ता तथा मोहिनी गुप्ता : महात्मा गांधी : व्यक्ति एवं विचार राधा पब्लिशर्स, नई दिल्ली 1996 pg. 72
5. यंग इण्डिया, गांधी महात्मा, (सम्पादक) 11 / 08 / 1920
6. हरिजन गांधी महात्मा, (सम्पादक) 17 / 10 / 1929
7. यंग इण्डिया 10 / 03 / 1920
8. यंग इण्डिया 19 / 03 / 1921
9. गांधी महात्मा, द स्टोरी आफ मार्टी(सम्पादक) नवजीवन पब्लिकेशन हाऊस, अहमदाबाद खण्ड-2 पृष्ठ -18
10. वही
11. वही pg. 18
12. She has believed in the truth of men's interested teaching that she is inferior to him.
13. हरिजन 24 / 02 / 1940
13. "If strength is meant brute strength, then indeed women is less brute than men”M.K. Gandhi, “Non violence in peace and war”, vol. 1 1948 pg.157
14. M.K. Gandhi “ non Violence in Peace and War” Vol. 1 1948 pg 157
15. वही pg. 18
16. हरिजन 17 / 10/1929
17. "While agreeing to the need of universal education he recommended separate methods of education for the boys and the girls.”
18. M. K. Gandhi “Women and Social Injustice” pg.6
19. "I do not believe that women will make her contribution to the world by mimicking or running a race with them.”
20. P.K. Prabhu ans Rao opicit pp pg.131-132
21. यंग इण्डिया 25 / 11 / 1926
22. हरिजन 05 / 10 / 1947

दादाभाई नौरोजी का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में मूल्यांकन

डॉ. अरविन्द सिंह गौर*

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय राजनीतिक इतिहास की एक अद्वितीय घटना थी। यह न केवल एक नए कालखण्ड के आगमन का प्रतीक थी वल्कि जनता के संकल्प की अभिव्यक्ति भी थी। भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास एक मायने में कांग्रेस का इतिहास ही है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय एकाएक नहीं हुआ, इसके जन्म के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई राजनैतिक संगठन अस्तित्व में आ चुके थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना बंगाल में, दादा भाई नौरोजी और श्री जगन्नाथ शंकर सेठ ने मिलकर मुम्बई में बाम्बे एसोसिएशन तथा चिपलांकर में पूना में 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना की।¹ किन्तु 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन में पूर्व कोई भी संगठन अखिल भारतीय स्तर पर न होकर क्षेत्रीय स्तर तक ही सीमित थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में दादा भाई नौरोजी की भूमिका सर्वप्रमुख थी, वे संगठन के सर्वेसर्वा तथा केन्द्र बिन्दु थे। उन्होंने अपने जीवन की शुरुआत से ही— 'बाम्बे एसोसिएशन' तथा 'ईस्व इण्डिया एसोसिएशन' संस्थाओं की स्थापना की, जिसमें भारतीयों को राजनैतिक समस्याओं के प्रति जागरूक रखा जाए। वे चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार भी भारतीयों की वास्तविक स्थिति तथा समस्याओं को पूर्ण रूप से जाने जिसमें समयानुकूल सरकार भारतीय जनता के हित के लिए कार्य कर सके।

दादा भाई नौरोजी देश में राष्ट्रीय स्तर का ऐसा संगठन चाहते थे जो समस्त देश के चुने हुए शिक्षित प्रतिनिधियों को एकत्रित कर सके तथा देश की राजनैतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श कर सके। दिसम्बर 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विधिवत स्थापना के साथ उनका यह स्वप्न पूर्ण हुआ।² दादा भाई नौरोजी ने इसकी स्थापना से लेकर विकास के प्रत्येक क्षेत्र में अपना योगदान दिया।

28 दिसम्बर, 1885 ई. का दिन भारतीय इतिहास में सदैव अविस्मरणीय बना रहेगा। इस दिन बम्बई के गोकुल दास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कर उद्घाटन हुआ। देश के विभिन्न क्षेत्रों से 72 प्रतिनिधि इस सम्मेलन में उपस्थित हुए³ जिनमें शिमला ए ए.ओ. ह्यूम, पूना से डब्ल्यू. एस. आप्टे तथा जी.जी. अगारकर, लखनऊ से गंगा प्रसाद वर्मा, बम्बई से दादा भाई नौरोजी, के.टी. तेलंग, फिरोज शाह मेहता तथा डी.ई. वाचा, कलकत्ता से डब्ल्यू.सी. बनर्जी, नरेन्द्र नाथ सेन और मद्रास से एस. सुब्रमण्यम अय्यर, पी. रंगिया नायडू आदि प्रमुख थे।⁴ देश के लिए यह प्रथम अवसर था, जिसमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों से आए हुए प्रतिनिधियों ने अपने विचार अखिल भारतीय मंच के माध्यम से व्यक्त किए व इस संगठन के प्रमुख केन्द्र बिन्दु दादा भाई नौरोजी थे। दादा भाई नौरोजी इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव लाए जिसके अन्तर्गत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन

* आधुनिक विभाग (इतिहास) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, गुरुवायुर परिसर पुरनाट्टुकरा, त्रिचूर, केरल

प्रतिवर्ष होगा और भाग लेने वाले प्रतिनिधि देश के हित सम्बन्धी विचारों को उजागर करेंगे। दादा भाई नौरोजी ने इस अधिवेशन में पारित प्रस्तावों की रूप रेखा निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए, प्रशासन व नीतियों की जांच के लिए एक आयोग की नियुक्ति की मांग की। दादा भाई नौरोजी ने दूसरे प्रस्ताव द्वारा इस बात पर बल दिया कि इण्डियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) की परीक्षाएं भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों जगह एक साथ हो। आई.सी.एस. की परीक्षा में शामिल होने की उम्र सीमा 19 वर्ष से बढ़ाकर 23 वर्ष करने की बात की।⁶

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन 1886 ई. में कलकत्ता में आयोजित हुआ। इनमें देश के विभिन्न क्षेत्रों से 436 प्रतिनिधि शामिल हुए।⁷ इस अधिवेशन में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने भी भाग लिया तथा इसके बाद वे 1917 तक प्रत्येक कांग्रेस सम्मेलन में सम्मिलित होते रहे। पण्डित मदन मोहन मालवीय ने भी प्रथम बार इस सम्मेलन में भाग लिया।⁸ मुस्लिम समाज के 33 प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। इस अधिवेशन की स्वागत समिति के सभापति डॉ. राजेन्द्र लाल मित्रा हुए जबकि दादा भाई नौरोजी कांग्रेस के अध्यक्ष बने। इस अधिवेशन में जनता को दर्शक के रूप में शामिल होने की अनुमति प्रदान की गई। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इस अधिवेशन का आरम्भ अपना एक गीत सुनाकर किया। तदोपरान्त अध्यक्षीय भाषण में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के महत्व पर प्रकाश डाला और कहा कि 'यह हमारा सौभाग्य है कि हम ऐसे शासन में रह रहे हैं जो हमें इस तरह मिलने देता है।' इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रिटिश शासन की खूबियों के महत्व को उजागर किया कि, 'ब्रिटिश शासन से जो लाभ हुए हैं, वे हमें मालूम है, हमें जो शिक्षा दी गई है, उसका मूल्य हम परखते तथा जानते हैं, हमें जो नया प्रकाश मिला है उसका मूल्य हम समझते हैं और यह सबक हमने सीखा है एशिया के निरंकुश शासकों के अंधेरे में स्वतंत्र अंग्रेजी सभ्यता की रोशनी पाकर।'⁹

कांग्रेस के कर्तव्यों के बारे में दादा भाई नौरोजी ने कहा कि कांग्रेस को समाज — सुधार के मामलों में न पड़कर केवल राजनीतिक मामलों में पड़ना चाहिए तथा इसके समर्थन में कहा कि भारत में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, सिख, जैन, बौद्ध अनेक सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों के मेल को भारतीय जनता का नाम दिया गया है। दादा भाई नौरोजी ने कहा कि— विभिन्न सम्प्रदाय तथा वर्गों के हित इस राष्ट्रीय संगठन में सामाजिक सुधार के अन्तर्गत किस तरह उठाए जा सकेंगे जिनकी आवश्यकता भिन्न—भिन्न प्रकार से प्रत्येक सम्प्रदाय व वर्ग को है? हममें से बहुत कम ही अन्य समुदायों व वर्गों के निजी परम्पराओं, रीति—रिवाज, रहन—सहन तथा भावनाओं आदि से परिचित हैं। हमारा ज्ञान को सिर्फ अपने ही वर्ग विशेष के रहन—सहन तक ही सीमित है। इन परिस्थितियों में प्रत्येक वर्ग तथा सम्प्रदाय की किसी भी अधिवेशन में किसी वर्ग — विशेष के सामाजिक सुधार का मुद्दा कैसे उठाया जा सकता है? ऐसा करना अनुपयुक्त तथा अनुचित होगा।¹⁰

दादा भाई नौरोजी ने भारत में व्याप्त गरीबी के सम्बन्ध में स्पष्ट किया कि, 'यदि कौंसिलों में भारतीय प्रतिनिधित्व में वृद्धि हो जाए तो वे प्रतिनिधि कौंसिलों व शासकों को उन कारणों को आसानी से समझा सकते हैं जिनसे देश की गरीबी में वृद्धि हुई और यदि गरीबी में निरंतर वृद्धि होती जाती है तो ब्रिटिश शासन के सभी उपाय व कार्य औचित्यहीन कहलाएंगे।'¹⁰

दादा भाई नौरोजी ने इस बात पर भी जोर दिया कि – भारतीयों को संसद में भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए जिससे वे भारतीय हित में प्रश्नों को संसद में रख के।¹¹ इस अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने विश्वासपूर्वक कहा था कि, 'यदि हमें स्वयं के प्रति सच्चे रहने, यदि हमें स्वयं के प्रति न्यायपूर्ण साबित होने तथा योग्य शिक्षा, जो हमें हमारे शासकों द्वारा उपलब्ध कराई गई है तथा स्वतंत्रतापूर्वक बोलने का अधिकार हमें दिया गया है, तो हम उचित रूप से आशा कर सकते हैं कि हमारी सरकार हमारी मांगों की तरफ ध्यान देगी तथा उचित मांगों को पूर्ण भी करेगी।'¹²

लाहौर कांग्रेस (1893) अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण के दौरान दादा भाई नौरोजी ने ब्रिटिश साम्राज्य को बाह्य तथा आंतरिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाएं रखने पर जोर दिया। बाह्य रूप से उनका तात्पर्य रूप के आक्रमणकारी रवैया से साम्राज्य को सुरक्षित रखना था वहीं आंतरिक दृष्टिकोण के अंतर्गत भारतीयों में निःस्वार्थ गुणों के संरक्षण तथा विकास की बात की।¹³

दादा भाई नौरोजी की आस्था ब्रिटिश शासन के प्रति थी तथा कांग्रेस जनों के समझ विचार व्यक्त किया कि, 'मुझे इस बात में बिल्कुल भी शंका नहीं है कि, ऐसे न्याय प्रिय लोगों के साथ व्यवहार करते करने में हमें पूर्ण विश्वास रखना चाहिए कि हमारा प्रयास व्यर्थ नहीं जाएगा।' मेरे इस विश्वास ने मुझे सभी मुसीबतों के प्रति सम्बल प्रदान किया है।¹⁴ लेकिन देश में 20वीं सदी की शुरुआत में फैले अकाल तथा प्लेग के समाधान के लिए सरकार ने कारगर कदम नहीं उठाए, परिणामस्वरूप लोगों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष तथा आक्रोश की भावना पनपी। इस असंतोष के माहौल में दादा भाई नौरोजी, दिनशा वाचा, रमेशचंद्र दत्ता तथा सर विलियम डिग्बी के लेखों ने निर्धनता की स्थिति को और अच्छे ढंग से स्पष्ट किया। परिणाम स्वरूप भारतीय जनता का ब्रिटिश शासकों की न्यायिक व्यवस्था से विश्वास डिगने लगा और ब्रिटिश विरोधी भावनाएं फैलने लगी। लार्ड कर्जन ने कांग्रेस की आवाज को अनदेखा किया तथा भारतीयों का निरंतर उपहास कर इन विरोधी भावनाओं को और मजबूत किया।

1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष बनने के विगत कुछ वर्षों के दौरान दादा भाई नौरोजी के ब्रिटिश शासन सम्बन्धी विचार में परिवर्तन आ रहा था और उन्हें ब्रिटिशों की सूझ-बूझ पर विश्वास नहीं रह गया था। दादा भाई नौरोजी अंग्रेजी शासन की नीतियों के आलोचक बन गए थे। दादा भाई नौरोजी ने नेविंगटन रिफार्म क्लब में भाषण देने हुए कहा था कि, 'प्रचलित है कि ब्रिटिशों ने सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु कानून निर्मित किया है किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य भारतीय सम्पत्ति का हरण करना है।'¹⁵

कलकत्ता अधिवेशन में देश के विभिन्न क्षेत्रों से 1663 प्रतिनिधि शामिल हुए तथा 20,000 दर्शक भी मौजूद थे। इसी अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी अध्यक्ष के रूप में स्वराज्य की मांग प्रस्तुत की, जो कि प्रथम अवसर था। अध्यक्षीय भाषण के दौरान दादा भाई नौरोजी ने कहा कि, 'जनता की अपनी सरकार के एवज में अच्छी सरकार नहीं हो सकती।'¹⁶

दादा भाई नौरोजी ने तीन सूत्रीय कार्यक्रम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए निर्मित किया। प्रथम, ब्रिटेन के समान भारत की शासन सम्बन्ध सेवाएं, विभाग, प्रशासन भारतीयों को सुपुर्द होना चाहिए। इससे भारतीय जनता की निर्धनता, धन निष्कासन आदि आर्थिक बुराईयां दूर होगी। भारतीयों का सामाजिक, बौद्धिक, औद्योगिक तथा प्रत्येक कल्याणकारी कार्य के लिए एक मात्र यही उपाय कारगर होगा।¹⁷ द्वितीय, ब्रिटेन के अन्य उपनिवेशों की तरह कर लगाने, कानून निर्माण तथा कर व्यय का अधिकार भारतीयों को भी प्राप्त होना चाहिए।¹⁸ तीसरे कार्यक्रम में, भारत तथा ब्रिटिश के मध्य आर्थिक तथा वित्तीय सम्बन्ध समता के आधार पर तथा न्यायसंगत हो अर्थात् किसी सैनिक, असैनिक विभाग के खर्च में भारतीय जनता धन अर्जित कर सके उसी अनुपात में वेतन, पेंशन, उपलब्धि आदि के रूप में प्राप्त लाभांश में भारतीयों को साम्राज्य के हिस्सेदार के रूप में अंश मिलना चाहिए।¹⁹

स्वराज्य के सम्बन्ध में दादा भाई नौरोजी ने कहा कि समस्त सरकार को परिवर्तित कर स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकता लेकिन यह समय भारतीयों को सत्ता हस्तांतरण का है। भारतीय जनता को समस्त प्रशासन के प्रत्येक भाग में भारतीयों को धीरे-धीरे सौंप देने की शुरुआत करनी चाहिए। दादा भाई नौरोजी ने शिक्षा के प्रसार को राजनैतिक उन्नति तथा उत्थान के लिए अनिवार्य माना। शिक्षा के प्रसार को दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य प्राप्ति की गति में तीव्रता का कारण माना अतः उन्होंने निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा प्रत्येक प्रकार की निःशुल्क शिक्षा की मांग की।²⁰

इस प्रकार दादा भाई नौरोजी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तीन बार (1886—कलकत्ता, 1893— लाहौर तथा 1906 कलकत्ता) अध्यक्ष रहे तथा, ब्रिटिश की शासन नीतियों को उजागर कर राजनैतिक जागृति फैलाई। अध्यक्ष के रूप में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस को एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया। यह ब्रिटिश शासन की अन्यायपूर्ण नीतियों का ही परिणाम था कि दादा भाई नौरोजी जैसे परम उदार व्यक्ति को भी ब्रिटिश शासन के प्रति उग्र स्वभाव का सहारा लेना पड़ा। यही कारण है कि 1906 में कांग्रेस की अध्यक्षता के दौरान उनका भाषण नवीन लक्ष्यों की प्राप्ति में नए साधनों का प्रयोग शामिल था। उन्होंने कांग्रेसजनों से 'स्वराज' प्राप्ति के लिए रचनात्मक प्रस्तावों को माध्यम बनाने का आह्वान किया। 'स्वराज' शब्द का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया था कि भारत की सीधी—साधी जनता भी देश के इस लक्ष्य को आसानी से अपने आपको सम्बद्ध करें। इस तरह दादा भाई नौरोजी ने अपने कांग्रेस अध्यक्ष के तीन कार्यकाल में संगठन को नवीन दिशा प्रदान की तथा लक्ष्य की प्राप्ति का प्रमुख साधन जनशक्ति को बनाया तथा जनशक्ति में ही पूर्ण विश्वास किया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. पी.आर. साहनी, आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, बरेली, 1961, पृ. 109
2. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही, पृ. 41
3. डॉ. पट्टाभि सीता रमैय्या, कांग्रेस का इतिहास, प्रथम खण्ड (1885—1935) सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1948।
4. कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही, पृ. 43।

5. आर.पी. मसानी, दादा भाई नौरोजी, दि एण्ड ओल्ड मैन ऑफ इण्डिया, पृ. 226, जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1939।
6. जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री, वाल्यूम पार्ट-1, अप्रैल 1973, सीरियल नम्बर 151, पृ. 151।
7. डॉ. पट्टाभि सीता रमैय्यै कांग्रेस का इतिहास, प्रथम खण्ड (1885-1935), सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1948।
8. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ दादा भाई नौरोजी, पृ. 3
9. वही पृ. 8
10. वही पृ. 18-18
11. वही पृ. 16
12. रामगोपाल, भारतीय राजनीति, पृ. 103, बनारस ज्ञान मण्डल लि., सम्वत् 2011।
13. स्पीचेज एण्ड सइरिमग्स आधि दादा भाई नौरोजी, पृ. 20।
14. दादा भाई नौरोजी, पेपर्स, 268, कन्सल्टेशन, एन. आई. नं. 131।
15. आर.पी. मसानी, आधुनिक भारत के निर्माता, दादा भाई नौरोजी, पृ. 211
16. गुज गवर्नमेन्ट कुड नेवर बी.ए. सबस्टीट्यूट फोर गवर्नमेन्ट वाय द पीपुल देमसेल्वस - सर हेनरी केम्पवेल, वैनरमैन, स्टलिंग, 23/11/1905
17. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ दादा भाई नौरोजी, पृ. 72-73
18. वही पृ. 73
19. वही पृ. 73
20. आर.पी. मसानी, आधुनिक भारत के निर्माता, दादा भाई नौरोजी, पृ. 213-214

गांधी चिन्तन में ग्राम स्वराज्य की अवधारणा: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

पूनम धिल्डियाल*

विश्व ग्राम की कल्पना भारतीय संस्कृति का विश्व की एक अद्भूत देन है। इसमें गांव को केवल एक भौतिक एवं भौगोलिक खण्ड के रूप में ही नहीं मानकर इसे एक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रतीक माना गया है। यही कारण है कि वेद से लेकर गांधी विनोवा तक सब ने ग्राम स्वराज्य की अवधारणा को महत्व दिया। गांवों को यदि हम सम्पूर्ण विश्व का एक छोटा स्वरूप माने तो हमें एक स्वस्थ और सुन्दर विश्व की अवधारणा भी मिल सकती है। शायद इसलिए ही वेद में कहा गया है कि यदि हम व्यष्टि में समिष्ट को देखना भूल जायेंगे तो हमारा चिन्तन अत्यन्त अंकित हो जायेगा इसलिए हमें अपना शरीर एक सुदृढ़ ग्राम व्यवस्था में रखना चाहिए तो हमारी दृष्टि दूर आकाश या शायद उससे भी ऊपर तक की जानी चाहिए ताकि हमारा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन किसी भी प्रकार की संकीर्णता के विष से दुष्प्रभावित न हो सके।

अतीत में हमारा ग्राम्य जीवन एक स्यंमपूर्ण, स्वावलम्बी और समरस सामाजिक जीवन एवं अध्यात्मोन्मुख सांस्कृतिक जीवन का प्रतीक रहा है। शायद यही कारण रहा है कि लगभग एक हजार वर्षों की गुलामी और विभिन्न विदेशी आक्रमणों के बावजूद भी भारत का सांस्कृतिक वैभव अच्छुण्ण रहा और इसकी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना भी स्वतन्त्र एवं सुरक्षित रही गांधी ने अपने सपनों के भारत के गांव को अस्पृश्यता और जातिवाद के जहर से मुक्त तो माना ही था उसे स्वावलम्बी अर्थ व्यवस्था और स्वशासन का केन्द्र भी कहा इसलिए जब हम ग्राम-स्वराज्य की चर्चा करते हैं तो हमारी कल्पना में भारत की प्राचीन स्वावलम्बी और सहकारी व्यवस्था है। जिसमें अभाव अन्याय व अशिक्षा का कोई स्थान नहीं है और वर्तमान समय में भी यह दुर्भाग्य है कि भोगवादी आयाम में ही हम गांवों का अस्तित्व मिटाना चाहते हैं। शहरों में विकास के लिए गांवों की अपेक्षा अत्यधिक राष्ट्रीय धन खर्च किया जाता है। यह 'ग्राम दोह का निश्चित प्रमाण है। यही कारण है कि आज अपने देश में ग्रामीण भारत अभूतपूर्व संकट और शर्मनाक कृषक आत्म हत्याओं को विवश होकर देख रहा है।¹

इसलिए आज विकास की नई अवधारणा की दृष्टि से स्वावलम्बी और स्वशासित ग्रामीण संरचना एक वैज्ञानिक अनिवार्यता है। बड़े-बड़े महानगर आधुनिक सभ्यता के शमशान एवं रोग के समान है। ग्राम स्वराज्य का सबसे बड़ा अधिकारी देश भारत ने शायद सबसे बड़ा अपराध किया जब ग्राम स्वराज्य के बदले सामुदायिक विकास खण्ड की स्थापना की गई। ग्राम जीवन का आधार सहज सर्वसम्मति या सर्वानुमति या आम राय को ही विकृत और जन विरोधी संसदीय प्रजातंत्र का प्रतीक पंचायत नहीं। ग्राम स्वराज्य शायद इसी की एक संजीवनी है जिसमें निर्णय की प्रक्रिया में ही एक मौलिक क्रान्ति है। लेकिन ग्राम स्वराज्य केवल एक प्रशासनिक और राजनीतिक तंत्र नहीं है। यह एक आर्थिक व्यवस्था भी है, जिसका पहला सूत्र है जमीन का ग्रामीकरण, जमीन किसी व्यक्ति की नहीं होगी, क्योंकि

* शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल

किसी व्यक्ति की जमीन होने से सामन्तवाद को प्रोत्साहन मिलता है। जमीन पर राज्य का भी स्वामित्व नहीं होगा क्योंकि जमीन गांव की हो यही एक निरापद व्यवस्था है।

स्वराज्य का अर्थ—

स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, यह एक वैदिक शब्द है जिसका अर्थ आत्म शासन और आत्म संयम है।² स्वराज्य से गांधी का तात्पर्य लोकसम्मति के अनुसार होने वाला भारत वर्ष का शासन है। सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता है तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। जनता को इस बात का ज्ञान दिया जा सकता है कि उसमें प्रतिकार करने की क्षमता है।³ गांधी ने कहा कि स्वराज्य व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति पर निर्भर करता है क्योंकि व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति पर बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से जूझने की ताकत रहती है। स्वराज्य का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना। गांधी का स्वराज्य तो सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखना है। स्वराज्य की रक्षा केवल वही हो सकती है। जहां व्यक्तियों को अपने निजी लाभ से ज्यादा देश और समाज की भलाई का महत्व हो। अर्थात् स्वराज्य का अर्थ हुआ देश की बहुसंख्यक जनता का शासन। गांधी ने हमेशा माना की उनके सपनों के स्वराज्य में जाति या धर्म के भेदभाव को कोई स्थान नहीं है। वह स्वराज्य सबके लिए और सबके कल्याण के लिए होगा। अगर स्वराज्य का अर्थ हमें सभ्य बनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो तो वह किसी कीमत का न होगा। हमारी सभ्यता का मूल तत्व तो यह होगा कि हम अपने सब कामों में चाहे वे निजी हो या सार्वजनिक नीति के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं।⁴

स्वराज्य शब्द का अर्थ संयम और उसकी प्राप्ति के साधन अर्थात् सत्य और अहिंसा है। गांधी ने माना कि उनकी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब व्यक्ति को यह आभास हो जाय कि हमें सत्य और अहिंसा के द्वारा ही स्वराज्य को प्राप्त करना है। आज संसार में दो प्रकार की विचार धाराएँ हैं एक विचार धारा जगत को शहरों में बांटना चाहती है⁵ क्योंकि गांवों के विकास के द्वारा ही स्वराज्य की सुरक्षा हो सकती है।

गांवों का स्थान— गांधी ने माना कि हमारे गांवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी अन्य सब प्रत्यन निरर्थक सिद्ध होंगे।⁶ क्योंकि अगर गांव नष्ट हो जाय तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायेगा। गांधी ने माना कि गांव उतने ही पुराने हैं जितना कि यह भारत पुराना है, गांधी ने कहा कि शहरों का बोल बाला होने से वे गांवों की सारी सम्पत्ति पर अपना अधिपत्य कर लेते हैं जिससे गांवों का झस हो जाता है और गांवों का शोषण एक संगठित हिंसा है और अगर हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के आधार पर करनी है तो गांवों को उनका उचित स्थान देना ही होगा।⁷ इसलिए उन्होंने माना कि गांवों का आदर्श स्वरूप व्यक्ति के सामने आना चाहिए। लोकतंत्र का वास्तविक सार यह है कि एक निरीह से निरीह व्यक्ति को भी सत्ता में भागीदारी का अवसर प्राप्त हो। मानवतावादी विभूति गांधी ने लोकतांत्रिक सिद्धान्त के समर्थन में बहुत कुछ कहा। जनता की शासकीय सत्ता का स्रोत है और इसे ही इससे लाभान्वित होना चाहिए। गांधी हमेशा याद दिलाते रहे हैं कि भारत गांवों में बसता है और हमें अपने ढांचे और उसकी संचालन विधियों में परिवर्तन करके उसे ऐसा

रूप देना होगा जिसमें पिछड़े ग्रामीण वर्ग को सक्रिय भूमिका मिल सके तथा शासकीय सत्ता में उसकी भागीदारी सुनिश्चित हो सके। गांधी ने स्वतन्त्र भारत के गांवों के पुनः निर्माण की कल्पना कर नये समाज की रचना द्वारा ग्राम विकास की व्यवस्था का विचार सुझाया जिसे पंचायती राज या ग्राम स्वराज्य का नाम दिया गया। ग्राम स्वराज्य यानि गांव में गांव का राज्य।

गांधी ने इस हेतु ग्राम को इकाई मानकर ग्राम विकास की व्यवस्था का विचार प्रतिदिन किया। इस ग्राम ईकाई का गठन स्वावलम्बन के आधार पर करने का उद्देश्य रखा गया। गांधी ने लिखा— “आजादी का अर्थ हिन्दुस्तान के आम लोगों की आजादी है, न कि केवल उन पर हुकुमत करने वालों की आजादी, हुकुमत करने वालों को जनता का सेवक बनना होगा और उनके अनुसार ही कार्य करना होगा।” गांधी के अनुसार आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। उनकी कल्पना थी कि हर एक गांव में पंचायती राज या ग्राम-स्वराज्य होगा। गांधी के अनुसार पंचायतों के पास पूरी सत्ता और ताकत होती थी।⁹

गांधी की ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना— 15 अगस्त 1947 को भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली किन्तु स्वराज्य कुछ ही हिस्सों तक रहा अन्य साधारण जन जिनके स्वराज्य की परिकल्पना महात्मा गांधी ने की थी उसकी सीमा को नहीं छू पाये। उन्होंने अपनी आखिरी वसीयत में दोहराया कि भारत को अपने चन्द शहरों कस्बों से भिन्न सात लाख गांवों के सन्दर्भ में सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आजादी सभी हासिल करनी है।⁹

गांधी के अनुसार ग्राम स्वराज्य की अवधारण— गांधी ने ग्राम स्वराज्य की सुन्दर कल्पना इस प्रकार है कि ग्राम स्वराज्य एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा जो अपनी खास जरूरतों के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहेगा बल्कि वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। प्रत्येक गांव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़ों के लिए पूरा कपास स्वयं पैदा कर ले। उनके पास इतनी अतिरिक्त जमीन होनी चाहिए जिसमें मवेशी चर सके एवं गांव के बड़ों एवं बच्चों के मनोरंजन के साधन और खेलकूद के मैदान आदि की व्यवस्था हो सके और जमीन में फसल बोकर और उसे बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके। प्रत्येक गांव में एक गांव की पाठशाला होनी चाहिए। पानी के लिए उनकी अपनी व्यवस्था रहेगी जिसमें गांव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा कुंओं और तालाबों पर गांव का पूरा नियंत्रण रहेगा क्योंकि बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए जरूरी होगी। जहां तक सम्भव होगा गांव के सारे कार्य सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जाति-पाति व ऊंच नीच का भेदभाव, जो हमारे समाज में पाये जाते हैं इस ग्राम स्वराज्य में बिल्कुल नहीं रहेंगे ग्राम्य जीवन पर गांधी की आगाध श्रद्धा थी। ग्राम्य जीवन के सभी पक्षों के सूक्ष्म अवलोकन एवं विश्लेषण करने के पश्चात उन्होंने गांव को एक लघु विश्व का रूप देने की कामना को मूर्तरूप देने का प्रयास किया। ग्राम्य जीवन को स्वर्ग बनाने का प्रयास करने के लिए गांधी ने ग्रामवासियों का आह्वान किया।¹⁰

ग्राम स्वराज्य के बुनियादी सिद्धान्त

(1) मानव का सर्वोच्च स्थान पूरा काम— हम जो भी काम करे उसमें मुख्य विचार मानव के कल्याण का ही होना चाहिए। इसका ध्येय है लोगों को सुखी बनाना और इसके साथ

उनकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति भी करना नैतिक उन्नति से गांधी का अभिप्रायः आध्यात्मिक उन्नति से है। यह विकेन्द्रीकरण से मिल सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति अहिंसक समाज से भिन्न है। गांधी की राय में न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें किसी को भी अन्न के और वस्त्र के आभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। हर व्यक्ति को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने पहनने की जरूरतें पूरी कर सके। यह आदर्श कार्य तभी क्रियान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहे। वे हर एक को बिना किसी बांधा के उसी तरह उपलब्ध है। किसी भी हालत में वे दूसरे के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का वाहन न बने। किसी भी देश राष्ट्र या समुदाय का उन पर एकाधिकार अन्याय पूर्ण होगा। गांधी ने हमेशा माना कि वह अर्थशास्त्र गलत है जो नैतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा या अवज्ञा करता है। अहिंसा धर्म का अर्थ अपने व्यापक रूप में यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित बनाने में नैतिक सिद्धान्तों को पूरा महत्व दिया जाय। प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है और इसलिए अपने भोजन की तथा जहां आवश्यक हो वहां कपड़ों और मकान की व्यवस्था का साधन जुटाने का अधिकार है।

गांधी ने हमेशा कहा कि कल की चिन्ता मत करो यह एक आदेश है जिसकी प्रतिध्वनि हमें जगत के लगभग सारे धर्म ग्रन्थों में सुनायी देती है। सुव्यवस्थित समाज में मनुष्य के लिए आजीविका प्राप्त करना दुनिया की आसान से आसान बात होनी चाहिए और होती है। जीवन की मुख्य आवश्यकताये प्राप्त करना प्रत्येक मानव का समान अधिकार है। यह अधिकार तो पशुओं और पक्षियों को भी है और चूकि प्रत्येक अधिकार के साथ एक सम्बन्धित कार्य जुड़ा हुआ है और उस अधिकार पर कहीं से कोई आक्रमण हो तो उसका वैसा ही उपचार भी है इसलिए हमारी समस्या का रूप यह है कि उसमें आम जनता में कोई भूखमरी का शिकार नहीं है।¹¹

(2) **शरीर श्रम**— शरीर श्रम न करने वालों को खाने का क्या अधिकार हो सकता है। समाज में हर व्यक्ति को जिंदा रहने के लिए और जीवन जीने के लिए श्रम करना चाहिए। गांधी ने हमेशा माना कि हर स्वस्थ आदमी को अपनी रोटी के लिए शरीर श्रम करना ही चाहिए। मनुष्य को अपनी बुद्धि की शक्ति का उपयोग आजीविका या उससे भी ज्यादा प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिए परोपकर के लिए करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रहना चाहिए। इस नियम का पालन करने वालों पर इसका चमत्कारी असर होता है, क्योंकि उसे परम शांति मिलती है। उसकी सेवा शक्ति बढ़ती है। गांधी ने कहा कि गीता का अध्ययन करने पर मैं इसी नियम को गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ के रूप में देखता हूँ। यज्ञ से बचा हुआ अन्न वही है जो मेहनत करने के बाद मिलता है। आजीविका के लिए पर्याप्त श्रम को गीता ने यज्ञ कहा है। लाखों भूख से पीड़ित व्यक्ति को भोजन की अत्यन्त आवश्यकता होती है यह भोजन उन्हें दिया नहीं जा सकता बल्कि उन्हें स्वयं पाना होगा और यह केवल कड़े श्रम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।¹²

समानता— ग्राम स्वराज्य व्यवस्था में हर एक को अपने विकास और अपने जीवन को सफल बनाने के समान अवसर मिलते रहने चाहिए। यदि अवसर दिया जाय तो हर आदमी समान रूप से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। जिस तरह सच्चे नीति धर्म और

कल्याणकारी अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीति धर्म के ऊँचे से ऊँचे आदर्श का विरोध नहीं करता। गांधी ग्राम स्वराज्य के माध्यम से ऐसी स्थिति लाना चाहते थे जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। गांधी का ग्राम स्वराज्य का आदर्श समान वितरण का है न्यायपूर्ण वितरण का है। रचनात्मक कार्य का यह अंग अहिंसापूर्ण ग्राम स्वराज्य की मुख्य चाबी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूंजी और मजदूरी के बीच झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना।¹³

संरक्षकता— आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन नीहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं है। तब उसके पास जो ज्यादा है वह क्या उससे छीन लिया जाय? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा और हिंसा द्वारा ऐसा करना सम्भव हो तो भी समाज को उससे कोई फायदा नहीं होगा। क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखने वाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके उतनी आवश्यकतायें पूरी करने के बाद जो पैसा बाकि बचे उसका वह प्रजा कि ओर से ट्रस्टी बन जाये। जब मनुष्य अपने आप को समाज का सेवक मानेगा समाज के लिए धन आयेगी उसके साहस में भी अहिंसा होगी इस प्रकार की कार्यप्रणाली का आयोजन किया जाय तो समाज में बगैर संघर्ष के मूल क्रान्ति पैदा हो सकती है। किन्तु महाप्रयत्न करने पर भी धनिक संरक्षक न बने और भूखों मरते हुये करोड़ों को अहिंसा के नाम से अधिक कुचलते जाय तब ऐसी स्थिति में क्या किया जाय। इस प्रश्न का उत्तर दूढ़ने में ही अहिंसक कानून भंग प्राप्त हुआ। क्योंकि कोई धनवान गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्य को अपनी हिंसक शक्ति का भान है क्योंकि उसे वह लाखों वर्षों से विरासत में मिली हुई है। अहिंसा की शक्ति का भान भी धीरे-धीरे किन्तु अचूक रीति से रोज-रोज बढ़ने लगा। गांधी ने माना कि वह प्रतिभावान व्यक्तियों में गरीबों में प्रसार पा जाय तो वे बलवान बने और आर्थिक असमानता को जिसके वे शिकार बने हुये हैं अहिंसक तरीके से दूर करना सीख ले।¹⁴

गांधी ने माना कि अहिंसा केवल एक वैयक्तिक गुण नहीं है वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणों की तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिए क्योंकि समाज के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन बहुत हद तक अहिंसा के द्वारा होता है। गांधी ने कहा कि मैं इतना ही चाहता हूँ कि इस सिद्धान्त का विशाल राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी विस्तार किया जाय।¹⁵

विकेन्द्रीकरण— गांधी ने कहा कि यदि भारत को अपना विकास अहिंसा की दिशा में करना है तो उसे बहुत सारी चीजों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीकरण किया तो उसे कायम रखने के लिए उसकी रक्षा के लिए हिंसा बल आवश्यक है। गांधी ने कहा कि कारखानों की सभ्यता पर अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते। लेकिन वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी ग्रामों के आधार पर निर्माण की जा सकती है। गांधी ने कहा कि मेरी कल्पना की ग्रामीण अर्थ रचना शोषण का सर्वथा त्याग करती है।¹⁶

स्वदेशी— स्वदेशी की भावना का अर्थ है हमारी वह भावना जो हमें दूर के क्षेत्र को छोड़कर अपने समीपवर्ती प्रदेश का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है। उन्होंने माना कि स्वदेशी

की भावना के कारण ही हिन्दू अपने धर्म परिवर्तन से इन्कार करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह उसे सर्वश्रेष्ठ मानता है। लेकिन वह जानता है कि वह उसमें जरूरी सुधार कर सकता है और उसे सम्पूर्ण बना सकता है। गांधी ने कहा कि जब मैं स्वदेशी की भावनाओं की खोज करते हुये देश की संस्थाओं पर नजर डालता हूँ तो मुझे ग्राम पंचायतें बहुत ज्यादा आकर्षित करती हैं। स्वदेशी का भावना से हट जाने के कारण हमें भंयकर विध्न बाधाओं से गुजरना पड़ता है। स्वदेशी एक सार्वभौम धर्म है। हर मनुष्य का पहला कर्तव्य अपने पड़ोसियों के प्रति है।

स्वदेशी की अन्तिम शाखा पर विचार करने से पता चलता है कि जनता की अधिकांश गरीबी का कारण यह है कि आर्थिक और औद्योगिक जीवन में स्वदेशी के नियम को भंग किया है उसका मुख्य कारण अगर भारत में व्यापार की कोई भी वस्तु विदेशों से न लायी गई होती तो गांधी ने माना कि हमारी भूमि में दूध और शहद की नदियां बहती होती और यह तभी सम्भव हो पायेगा। जब सभी व्यक्तियों में स्वदेशी की भावना जागृत हो, जिससे की प्रत्येक व्यक्ति आत्म निर्भर बन सके।¹⁷

स्वावलम्बन— समाज का घटक एक गांव या लोगों का ऐसा छोटा समूह होना चाहिए, जिसकी व्यवस्था हो सके और जो आदर्श की दृष्टि से जीवन की मुख्य आवश्यकताओं के बारे में स्वयं पूर्ण और आत्म निर्भर हो। हर गांव अपनी आवश्यकताओं की चीजे स्वयं पैदा करे और खादी का मुख्य काम है हर गांव को अनाज और कपड़े के बारे में आत्मनिर्भर बनाना। हर गांव में कपास की खेती को विकेन्द्रित किया जाय। ग्राम स्वराज्य की स्थापना तभी हो पायेगी हर एक गांव को अपने पांव पर खड़ा होना होगा। हर व्यक्ति को अपनी आवश्यकतायें व अपना कारोबार स्वयं चला सके और सारी दुनिया से अपनी रक्षा स्वयं कर सके।

सहयोग— ग्राम स्वराज्य की अवधारणा का मुख्य तत्व सहयोग की भावना है। प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग की भावना से परस्पर कार्य करना चाहिए और गांव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जाने चाहिए। सहकारिता की पद्धति किसानों के लिए ही ज्यादा जरूरी है। जमीन सरकारी हो इसलिए जब उसे सहकारिता के आधार पर जोता जायेगा तो उससे किसानों को ज्यादा से ज्यादा आमदनी होगी और सहाकारिता का आधार पूर्ण अहिंसा पर होगा।

सत्याग्रह— सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्रों के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी।

सब धर्मों की समानता— ग्राम स्वराज्य में हर एक धर्म की अपनी पूरी और बराबर की जगह होगी। गांधी ने हमेशा कहा कि हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं और इस पेड़ की जड़ हिलायी नहीं जा सकती, क्योंकि वह इतनी गहरी है कि कोई भी आंधी भी उसे हिला नहीं सकती। संसार में जितने भी धर्म हैं वे सब सत्य को प्रकट करते हैं। लेकिन वे सब अपूर्ण मनुष्य द्वारा व्यक्त हुये हैं इसलिए उन सबमें असत्य का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए हम जिना अपने धर्म को मानते हैं हमें और धर्मों को भी मानना चाहिए।¹⁸

पंचायत राज— गांव का शासन चलाने के लिए हर साल एक पंचायत चुनी जायेगी। ग्राम स्वराज्य व्यवस्था में गांव के सरपंचों के द्वारा ही न्याय की व्यवस्था होगी। पंचायत राज बड़ा

पुराना और सुन्दर शब्द है। इस शब्द के साथ प्राचीनता की मिठास जुड़ी हुई है। हर एक पंचायत का कर्तव्य होगा कि वह ग्राम की शिक्षा व्यवस्था पर ध्यान दे। गांव की साफ सफाई का ध्यान रखे। ग्राम स्वराज्य की रचना स्वाभावतः सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। अगर पंचायत राज की व्यवस्था को सुदृढ़ और सुचारु रूप से संचालित करना चाहते हैं तो उसके लिए व्यवस्थाओं को सही ढंग से संचालित करना होगा। सम्पूर्ण ग्रामों का विकास एक व्यवस्था के अन्दर करना होगा। जिससे सम्पूर्ण ग्रामों का सर्वांगीण विकास हो सके।

नई तालीम— गांधी ने कहा कि शिक्षा से मेरा अभिप्राय: यह है कि बालक की या प्रौढ़ की शरीर मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओं का सर्वांगीण विकास किया जाय और उन्हें प्रकाश में लाया जाय। अक्षर ज्ञान न तो शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है और न उसका आरम्भ है। वह तो मनुष्य की शिक्षा के कई साधनों में केवल एक साधन है। क्योंकि अक्षर ज्ञान अपने आप में शिक्षा नहीं है। अक्षरज्ञान अपने आप में एक महत्व पूर्ण तथ्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्राप्त है कि वह शिक्षा ग्रहण करे और समाज में आगे बढ़ सके। गांधी ने कहा कि नई तालीम के द्वारा बच्चों को सुधार कर उन्हें गांव का आदर्श निवासी बनाया जाय इसकी योजना उन्हीं को ध्यान में रखकर तैयार की गई है। इस योजना की असल प्रेरणा भी गांवों से मिली। यह तालीम बच्चों को फिर वे गांव के रहने वाले हो या शहरों के हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालक के मन और शरीर दोनों का विकास करती है।¹⁹

खेती और पशुपालन— गांधी ने माना कि प्रारम्भ से ही मेरी यह दृढ़ श्रद्धा रही है कि देशवासियों के लिए खेती ही मात्र अटूट और अचल सहारा है। उन्होंने कहा कि अब समय आ गया है कि खेती और पशुपालन व्यवस्था पर ध्यान दिया जाय जिससे गांवों का विकास किया जा सके। खेती और पशुपालन के द्वारा गांवों की आर्थिक स्थिति को सुधारा जा सकता है। खेती करके अपनी आवश्यकता के अनुसार अन्न पैदा किया जा सकता है और पशुपालन के दुग्ध उत्पादन किया जा सकता है, जिससे बेरोजगार ग्रामीणों को व्यवसाय भी प्राप्त होगा और खेती और पशुपालन करके एक आदर्श ग्राम व्यवस्था को बढ़ावा मिलेगा।¹³⁷

खादी और कताई— खादी देश की आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता के प्रारम्भ के चिन्ह है। खादी को उसके फलितार्थों सहित स्वीकार करना चाहिए उसका अर्थ है सम्पूर्ण स्वदेशी मनोवृत्ति रखना गांव की सारी आवश्यकतायें भारत में ही है। वह भी ग्रामवासियों की मेहनत और बुद्धि से। गांधी ने कहा कि मेरे लिए खादी भारतीय मानव समाज की एकता उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता की प्रतीक है। उन्होंने कहा कि जिस परिवार के पास जमीन का टुकड़ा हो वह कम से कम घर के उपयोग के लिए कपास उगा सकता है। गांधी को पूरा विश्वास था कि हाथ—कताई और हाथ बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत का नैतिक और आर्थिक विकास में सबसे ज्यादा मदद मिलेगी। अगर करोड़ों व्यक्तियों को भूखों मरने से बचना हो तो उन्हें इस योग्य बनना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें और हर गांव को अपना कार्य वापस मिल जाय। उन्होंने माना कि चरखे का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक बुद्धि और देश भक्ति वाले निःस्वार्थ भारतीयों की एक सेना चरखे का सन्देश गांवों में फैलाने का काम न करने लगे, तभी चरखे का विकास सम्भव है और तभी ग्रामीणों का भी विकास सम्भव हो सकता।²⁰

ग्राम स्वराज्य की प्रांसगिकता : निष्कर्ष

गांवों की उन्नति और प्रगति पर भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। इसीलिए गांधी ने कहा था कि यदि गांव नष्ट होते हैं तो भारत नष्ट हो जायेगा। विश्व में उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। ग्रामीण भारत को गति प्रदान करने की दृष्टि से पंचायतों की भूमिका सर्वोपरि है। सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर पंचायती राज संस्थाओं को और अधिकार देने के उद्देश्य से संविधान में 73वें संशोधन के द्वारा पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा प्राप्त हुआ जो लगभग पूरे देश में प्रभावी है। भारत में पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण प्रतिनिधि स्वयं अपने ग्राम की प्रत्येक समस्या का निवारण प्रत्यक्ष रूप से कर सकती है। भारतीय स्थानीय स्वायत्त शासन में ग्राम पंचायत सबसे छोटा क्षेत्र है। ग्राम पंचायत का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता भारतीय संविधान में स्वीकार की गई है। संविधान की धारा 40 में (नीति निर्देशक तत्वों में कहा गया है 'राज्य सरकारों को ग्राम पंचायतों का संगठन करना चाहिए। उन्हें ऐसी शक्तियां तथा आधार दिये जाने चाहिए जो उन्हें स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में समर्थ बनाने में आवश्यक हो। गांधी ने भी भारत में पंचायतों के माध्यम से ग्राम राज्य लाने की कल्पना की थी। गांधी जी की ग्राम स्वराज्य की अवधारणा को वर्तमान समय में लाने के लिए ग्राम उद्योगों पर बल दिया जाना चाहिए।²¹ संविधान में 73वें संविधान संशोधन द्वारा जो पंचायती राज व्यवस्था प्रदान की गई है। उसमें भी जनता की अपेक्षाओं के अनुकूल कार्यों को सम्पन्न किया जाना चाहिए।

ग्राम स्वराज्य की अवधारणा को एक व्यापक सभ्यतागत परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। यह केवल आर्थिक या राजनीतिक विचारधारा या कार्यक्रम नहीं है। यह तो वैकल्पिक सभ्यता और नवीन क्रान्ति का समग्र दर्शन है। युद्ध, शस्त्र और आर्थिक वैज्ञानिक क्षेत्र में होड़, नैतिक और आध्यात्मिक खोखलेपन के लक्षण है। केन्द्रित सत्ता की रक्षा के लिए शस्त्रों की संस्कृति और बढ़ते हुये भोगवाद के कारण पर्यावरण संकट आदि कितने ही अन्तविरोध आधुनिक सभ्यता का विकृत रूप अभिव्यक्त करते हैं। वर्तमान समय में औद्योगिक सभ्यता की व्यवहारिकता के लिए भी चुनौतिया है क्योंकि विकसित देश भी तेज मंदी, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति आदि आर्थिक चक्र जनित संकट में अपने अस्तित्व को बचाये रखने में अक्षम है। इसके विपरीत ग्राम स्वराज्य की अवधारणा वास्तविक चुनौतियों एवं संघर्षों में से मूल्यों को सजग रूप से खोजता रहा है। ग्राम स्वराज्य की दिशा में सर्वोदय समाज की ओर से संगठित और कई प्रकार के प्रयास किये गये जिसमें मुख्य प्रयास भूदान—ग्रामदान आन्दोलन द्वारा हुआ। वर्तमान समय में समाज में अधिक से अधिक प्राप्त करने की होड़ में आतंकवाद और हिंसा बढ़ती जा रही है। जिससे पूरा समाज प्रभावित हो रहा है। भूदान आन्दोलन ग्राम स्वराज्य की दिशा में प्रथम चरण था। इसका सर्वाधिक महत्व अनुकूल वातावरण पैदा करना था। इसीलिए दूसरे चरण में ग्राम दान का विकास हुआ। ग्रामदान का संगठनात्मक लक्ष्य था ग्राम परिवार का निर्माण करना अर्थात् गांव का एक ऐसा संगठन जिस पर सम्प्रदायवाद, जातिवाद की छाया न हो। वर्तमान समय में ग्राम विकास या सामुदायिक विकास की सारी योजनायें इसलिए असफल हो जाती है क्योंकि हम गांवों में ग्राम—समुदाय ही नहीं बना पाते हैं। आज गांवों की दुर्दशा के कारण शहरों पर दबाव बढ़ रहा है। वे अस्त व्यस्त हो रहे हैं, प्रदूषण का शिकार हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में गांवों को स्वस्थ एवं सशक्त करने से शहर भी

सशक्त होंगे और 'नगर स्वराज्य' के नाम से शहरों में भी ग्राम स्वराज्य की भावना का विकास हो सकता है। वर्तमान समय में सम्पूर्ण देश में अलगाव और गरीबी मुख्य समस्यायें हैं।

भूमण्डलीय और ग्राम स्वराज्य बनाम पूंजी संस्करण अर्थात् भूमण्डलीकरण आर्थिक साम्राज्यवाद व तानाशाही का मोहक मायाजाल है जिसमें कुटुम्ब की मानव धारणा को विश्व बाजार में पलट दिया है। भूमण्डलीकरण तथा उसके साथ चलने वाले उदारीकरण के भावों ने वर्तमान समय में यही समस्या खड़ी कर दी है। इस का मुकाबला करना आज सम्पूर्ण समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। ग्राम स्वराज्य का आदर्श इस वैश्विक चुनौती के रूप में एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत है। मूलतः गांधी ने हिन्द स्वराज्य में जो दर्शन दिया, विनोबा ने भूमि के प्रश्न को लेकर उस दर्शन को अधिक ठोस स्वरूप दिया। वर्तमान समय में इस चुनौती ने गरीब और अमीर के बीच की खाई को बढ़ा दिया है। इसके लिए गांधी ने ग्राम स्वराज्य का जो मॉडल दिया वो अत्यन्त उपयुक्त है।

वर्तमान वैश्वीकरण और उदारीकरण के सन्दर्भ में गांधी का विश्लेषण किया जा रहा है और विश्व अर्थ व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में गांधी के ग्राम स्वराज्य की उपयोगिता सार्थकता खोजी जा रही है। जहां गांधी का समकालीन समाज वैश्वीकृत समाज के स्थान पर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, रंगभेद आदि से ग्रसित था। वहां ग्रामोन्मुख विकास का गांधी का आग्रह आज के शहर गांव विभेद और ग्रामीण पिछड़ेपन के तहत विकल्प की अपेक्षा पूरक समाधान के रूप में कुछ सार्थकता अवश्य रखता है। गांधी के ग्राम स्वराज्य की अवधारणा आज भी उतनी ही प्रासांगिक है जितनी उस समय थी। क्योंकि गांवों को सुदृढ़ और सम्पन्न बनाने की जितनी आवश्यकता तब थी आज उतनी ही नहीं वरन् उससे ज्यादा है।

ग्राम स्वराज्य गांधी के आजीवन शोध का परिणाम है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख ग्राम स्वराज्य को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। वर्तमान समय में विश्व आर्थिक और पर्यावरणीय संकट से गुजर रहा है। दुनिया में हिंसा और आतंकवाद बढ़ता जा रहा है। समस्त संसार में अशान्ति व्याप्त हो रही है। साम्प्रदायिकता की समस्या ने समस्त विश्व को अक्रांत किया है। सामाजिक शान्ति और सुरक्षा को भी इसने गम्भीर चुनौती दी है। इन सबके निवारण के लिए नये विकल्प के रूप में गांधी की ग्राम स्वराज्य की अवधारणा का प्रयोग करना होगा। जिससे एक स्वस्थ और सुन्दर राष्ट्र राज्य की स्थापना हो सकती है और तभी एक आदर्श समाज व आदर्श ग्राम की स्थापना की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह रामजी :गांधी दृष्टि, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, 2010 पृ0सं0 32-33
2. गांधी एम0के0 : यंग इण्डिया 19.3.31, पृ0सं0 30
3. गांधी एम0के0 हिन्दी नवजीवन : 29:1.24 पृ0 198
4. गांधी एम0के0 ग्राम स्वराज्य (संग्राहक) हरि प्रसाद व्यास, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, 1963, पृ0 4-5
5. वहीं पृ0सं0 - 7
6. गांधी एम0के0 : यंग इण्डिया, 26:12.29, पृ0सं0 - 420

7. गांधी एम0के0 : हरिजन सेवक, 20.1.40 पृ0सं0— 392
8. सकसेना रमेश: गांधी एक अध्ययन, विश्व भारती पब्लिकेशन दिल्ली, पृ0सं0 — 69, 70
9. सिंह अमर ज्योति: महात्मा गांधी और भारत, प्रकाशक अमर ज्योति सिंह, 1995, पृ0सं0 36
10. सकसेना रमेश: पूर्वोक्त, पृ0सं0, 70
11. गांधी एम0के0 : ग्राम स्वराज्य (संग्राहक) हरिप्रसाद व्यास, पूर्वोक्त, पृ0सं0—33, 44
12. वही पृ0सं0 — 36—37
13. गांधी, एम0के0 : हरिजन सेवक, 24.8.40, पृ0सं0 — 260
14. वही, 7.1.39, पृ0सं0— 417
15. वहीं, 4.11.39 पृ0सं0— 331
16. गांधी एम0के0 , सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, 1959 पृ0सं0— 44, 46
17. गांधी एम0के0, ग्राम स्वराज्य: पूर्वोक्त, पृ0सं0 41, 42
18. वही, पृ0सं0 — 43—44
19. गांधी एम0के0 खादी, 1959, पृ0सं0— 240
20. गांधी एम0के0 ग्राम स्वराज्य (संग्राहक) हरिप्रसाद व्यास नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, 1963, 430—433
21. गांधी एम0के0 — हिन्दी नवजीवन, 4.10.21, पृ0सं0— 62

भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक धार्मिक पृष्ठभूमि

प्रो. के. रतनम्* व राघवेन्द्र यादव**

भारत में राष्ट्रवाद के अर्थ की व्याख्या करने से पूर्व यह आवश्यक है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अर्थ स्पष्ट हो जाये। किसी देश की प्रगति मूलतः उस देश के लोगों के जीवन स्तर पर निहित होती है आधुनिक काल में भौतिकवाद तथा व्यक्तिवाद के विकास के परिणामस्वरूप राष्ट्र के भीतर मतभेद उत्पन्न हो रहे हैं जो राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र दोनों के लिए अनुपयुक्त हैं।

जब व्यक्ति राष्ट्रहित में अपने स्वार्थों एवं संकुचित सीमाओं का उत्सर्ग करता है तभी वास्तविकता में 'राष्ट्रीयता' का जन्म होता है, हिन्दी साहित्य की शास्त्रीय शब्दावली में 'राष्ट्रवाद' को देश विषयक रीति के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

भारतीय संस्कृति पर जो प्रभाव अंग्रेजी शासन में हुआ यह इससे पहले कभी देखने को नहीं मिला भारत पर अंग्रेजों से पहले भी कई विदेशी आक्रांकों ने विजय प्राप्त कर यहाँ शासन किया किन्तु किसी ने भी भारतीय संस्कृति से छेड़छाड़ नहीं की, बल्कि स्वयं भारतीय धर्म—संस्कृति तथा सभ्यता को अपनाने लगे इस बात से यह प्रमाणित होता है कि भारतीय संस्कृति विश्व में सबसे उत्तम है।¹

किन्तु अंग्रेज पूर्णरूप से अलग थे वे न केवल चमड़ी से श्वेत होने के कारण स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे बल्कि अपने आपको सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से भी अधिक उत्तम समझते थे। इन्होंने भारतीय संस्कृति में हस्तक्षेप करते हुए भारतीयों पर अपनी सभ्यता थोपने का भी प्रयास किया जिससे भारतीय समाज को आघात हुआ अतः इसकी प्रतिक्रिया ने ही भारत में राष्ट्रवाद की नीव रख दी।

अंग्रेजी व्यावसायिक प्रवृत्ति के थे इसी कारण उनका मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक धन कमाना था जिसके चलते भारत की आर्थिक नीव अंग्रेजों ने पूर्ण रूप से खोखली कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।² अंग्रेजों ने भारत में भिन्न—भिन्न भू—धृति पद्धतियाँ अपनाईं (धृति शब्द का अर्थ है 'धारण करना अर्थात् जिन शर्तों पर कृषक राज्य से या भूमि पति से भूमि लेता है) अंग्रेजों ने भारत की कृषि पर तीन प्रकार की भू—धृति पद्धतियाँ अपनाईं अर्थात् जमींदारी, महालवाड़ी तथा रैयतवाड़ी जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित थी। जिससे भारत के गाँव के लघु उद्योग धन्धे प्रायः समाप्त कर दिये गए। जमींदारी प्रथा ने गाँवों का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया अब यह सीधे केन्द्रीय शासन के अंतर्गत आने लगे।

केवल कृषि ही नहीं बल्कि उद्योग—धन्धे भी चौपट हो गए थे। जिसमें मुख्यतः कपड़ा, लोहा, चीनी चमड़ा आदि प्रमुख थे अब इन्हें निर्यात करने के स्थान पर आयात करने की स्थिति उत्पन्न हो गई थी भारत में भुखमरी, बेरोजगारी दुर्भिक्ष आदि से उत्पन्न आर्थिक संकट ने राष्ट्रवाद की ओर कदम बढ़ाया।

* इतिहास विभाग, के.आर.जी. कॉलेज, ग्वालियर (म.प्र.) **शोधार्थी इतिहास विभाग, अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी, विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

इन परिस्थितियों का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने नवीन उद्योगों जैसे कपड़ा, कोयला, नील इत्यादि के कारोबार तीव्र गति से विकसित किये जिससे भारतीय लोगों को आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर होना पड़ा भारतीय उद्योग धन्धे एकदम से समाप्त नहीं हुए थे, इनमें कुछ की धीमी प्रगति भी हो रही थी किन्तु अंग्रेजों ने भारतीय उद्योगपतियों के लिए कठिन प्रतियोगिता का युग प्रारम्भ कर दिया था।

19वीं सदी के आते-आते भारत की आर्थिक स्थिति सोचनीय हो गई थी भारत में अब राष्ट्रवाद विद्रोहों के रूप में भी दिखाई देने लगा था जिसे दवाने के उद्देश्य से सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी सेना पहुँचाना अंग्रेजों ने लक्ष्य बनाया।¹

महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति में आगमन तक भारत में भूमिकर व्यवस्था के कारण कृषक की स्थिति सोचनीय थी, चम्पारन तथा खेड़ा में किसानों ने कर व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन भी किए। सन् 1912 में चम्पारन कृषक एक्ट के पारित होने के पश्चात् करो में कुछ रियासतें दी गयी। परन्तु यह कृषकों के लिए न के बराबर था कृषकों पर करो का बोझ और लघु उद्योगों का विनाश भारतीयों पर दुहरी मार थी अंग्रेजों ने भारत में केवल उन उद्योगों का ही विकास किया था जिससे उन्हें लाभ था। फलस्वरूप अब राष्ट्रवाद की भावना खुलकर सामने आने लगी और कांग्रेस ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति अपनायी जिसमें सम्पूर्ण देशवासियों का सहयोग मिला इस युग में भारत का जितना औद्योगिक विकास हुआ, उतना ही आर्थिक शोषण भी इसलिए गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक आदि की प्रेरणा से राष्ट्रवाद की अग्नि धधक उठी आर्थिक दुरावस्था का परिणाम भीषण भुखमरी, बेकारी, और कर्ज के बोझ के रूप में सामने आ रहा था।

दूसरी ओर 1914 का समय प्रथम विश्व युद्ध का समय आ गया था ब्रिटिश पूंजी के लिए भारत में तरह-तरह के विभागों जैसे रेल, बैंक आदि के विकास को बढ़ावा दे रहे थे। ऋण कुव्यवस्था ने कृषक जीवन को भी हिलाकर रख दिया तत्कालीन कृषक जीवन का सही प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है।¹ ऐसी स्थिति में गांधी जी ने किसानों की दशा में सुधार लाने के प्रयास किए और कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई।

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारणों में धार्मिक सामाजिक परिवेश का विश्लेषण करने पर पाया गया कि यह युग अनेक कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों से घिरा हुआ था यद्यपि अंग्रेजों ने भी अनेक सुधारवादी प्रयास किए जिससे कुछ सीमा तक सुधार सफल भी रहे भारत में अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों को ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति, व्यापार, नौकरी आदि की सुविधाएँ प्रदान की।

तथापि सामाजिक कुरीतियों के समापन में ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसॉफिकल सोसायटी आदि सुधारवादी संस्थाओं का योगदान भी सराहनीय रहा तथा समाज की उन्नति के लिए सहायक राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, गोपाल कृष्ण गोखले, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, दयानन्द आदि लोक नायकों के प्रयासों ने भी समाज को न केवल सामाजिक कुरीतियों से बाहर निकालने का प्रयास किया बल्कि समाज में राष्ट्रवाद की भावना भी जागृत की। इनके प्रयासों से भारतीयों को अपनी वास्तविक शक्ति का परिचय मिला तथा जन-जागरण के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार होने लगी।¹ जातिभेद, बाल-विवाह,

वृद्ध—विवाह, सती—प्रथा जैसी कुरीतियाँ समाज को शक्तिहीन बना रही थीं इनमें सुधार का प्रयास लॉर्ड विलियम बैंटिक द्वारा सती—प्रथा पर रोक तथा ठगी का उन्मूलन भी सराहनीय कदम था।

राष्ट्रवाद को जागृत करने के लिए भारत देश में सामाजिक धार्मिक चेतना ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, इसकी जागृति में विभिन्न संस्थाओं ने योगदान दिया ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय ने पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के समन्वय पर अधिक बल दिया इसके संदर्भ में उनके सिद्धान्त मूर्तिपूजा का विरोध, समस्त धर्मों में सत्य ग्रहण की प्रवृत्ति, एकेश्वरवाद आदि।

इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की पुनर्व्यवस्था की ओर मानव सेवा के लिए उपनिषदों से पर्याप्त मात्रा में आधार खोज निकाले⁹ इन्होंने ईसाई मत को अस्वीकार कर दिया ओर महात्मा यशु के देवत्व को भी स्वीकार नहीं किया¹⁰ परन्तु यूरोपीय मानववाद को अवश्य स्वीकार किया सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू समाज की कुरीतियों सती प्रथा, वेश्यागमन, जातिवाद आदि का विरोध किया¹⁰ आज भी लोग उन्हें आधुनिक भारत का अग्रदूत और देश का पथ प्रदर्शक मानते हैं। इनकी प्रेरणा से भारतीय समाज को धार्मिक असहिष्णुता तथा रूढ़िवाद को नष्ट करने में सराहनीय सफलता मिली।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सन् 1877 में स्थापित आर्य समाज वेद—संस्कृति पर आधारित संस्था थी आर्य समाज ने अविनाश, विद्या प्रसार, वेद—ग्रंथों के मनन के साथ—साथ आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन भी प्रारम्भ किया जिसके अन्तर्गत लोगों को अन्य धर्मों से हिन्दु धर्म में लाने का प्रयास किया गया, मूर्तिपूजा विरोध, अछूतोंद्वारा विधवा—विवाह—समर्थ बाल—विवाह निषेध जैसे कुछ अन्य सुधार कार्य भी इस संस्था ने किये।

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना द्वारा रामकृष्ण परमहंस की विचारधारा का प्रसार किया उन्होंने जनता में स्वधर्म की श्रेष्ठता का विश्वास जाग्रत किया। इन्होंने भारतीय आध्यात्मिक सभ्यता का समन्वय करके भारतीय अध्यात्मिक को देश—विदेशों तक पहुँचाया तथा वह शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए के प्रबल समर्थक थे। इन्होंने संसार में सामाजिक और धार्मिक सुधारों के लिए सराहनीय कार्य किये जिसके लिए ये भारत माता के महानतम सूपतों में से एक माने जाते हैं।

अन्य प्रमुख संस्थाओं में थियोसोफिकल सोसायटी भी थी जिसकी स्थापना सन् 1857 में ब्लावत्सकी ने अमेरिका में की थी तथा इसका भारत में प्रचार—प्रसार एनीवीसेंट ने किया इस संस्थान ने स्वदेशी शिक्षा पर बल दिया जिससे भारतवासियों के मन से स्वयं को विदेशियों के समक्ष हीन समझने का भाव नष्ट हो सके।¹¹ इनके प्रयासों से भारतीयों में आत्मविश्वास और राष्ट्रीयवाद की भावना जागी।

क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा बलपूर्वक ईसाई धर्म के प्रचार ने भी भारतीय जनता में उग्र प्रतिक्रिया को जन्म दिया। इनके विरोध में प्रत्यक्ष आन्दोलन तो नहीं हुए, किन्तु अपने धर्म के प्रति निष्ठा के रूप में असंतोष की अभिव्यक्ति निरंतर की जाती रही है।¹²

धार्मिक—सामाजिक दृष्टि से जनता अभी भी जाति विषयक पाखंड और अन्धविश्वासों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाई थी। गांधी जी ने भी अस्पृश्यता—निवारण तथा हिन्दू—मुस्लिम वैमनस्य के समापन के लिए अहिंसात्मक को समन्वित रूप से ग्रहण करते हुए ग्रामोद्योग, खादी, कृषि की दृष्टि से आत्म—निर्भरता, सर्वोदय आदि को अपना उपकरण बनाया। उन्होंने अछूतों की 'हरिजन' नाम देकर उनके सुधार के लिए 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की।

गांधी शांतिपूर्ण आन्दोलन के पक्षधर थे उनके असहयोग आन्दोलन में पुरुषों की भांति—महिलाओं ने भी सक्रिय भूमिका अदा की। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रवादक की विचारधारा को जागृत करने में सामाजिक—धार्मिक भावना और राष्ट्रीय आन्दोलन एक दूसरे के लिए पूरक—स्वरूप थे।

सन्दर्भ

1. श्रीमती अलका सिंह कुशवाह 'शोध प्रबन्ध' जीवजी वि.वि. ग्वा.
2. बी.एल. ग्रेवर, अलका मेहता, जसवाल 'आधुनिक भारत का इतिहास पेज नं. 159
3. B.H. Baden Powell—the land System of British India 2 Vols.
4. अयोध्या सिंह, 'भारत का मुक्ति संग्राम' पेज नं. 11
5. प्रेमचन्द्र, 'कर्मभूमि' पृष्ठ—65
6. रामधारी सिंह दिनकर, 'सांस्कृति के चार अध्याय' पृष्ठ 545
7. R.W. Frazer, "British India" Pages 206-210
8. बी.एल. ग्रेवर, अलका मेहता, जसवाल, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ नं. 271
9. The Precepts of Jesus : Calcutta 1820
10. बी.एल. ग्रेवर, अलका मेहता, जसवाल, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ नं. 272
11. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृति स्रोत पृष्ठ 31
12. R.B. Majumdar 'History of India Social and Political Indias' Pages 9-10

नेतृत्व की अवधारणा तथा नेतृत्व की सहायक दशाओं का एक अध्ययन

मधुबाला जुआंटा*

सामाजिक संरचना के अन्तर्गत लोगों के व्यवहारों, कार्यों एवं योजनाओं को प्रभावित करने में नेतृत्व की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नेता समाज एवं व्यवस्था के बीच की एक कड़ी है। समाज में नवीन विचारों, आदर्शों, मूल्यों, एवं योजनाओं को पहुँचाने का कार्य नेता द्वारा ही किया जाता है। साथ ही नेतृत्व विशेष परिस्थितियों में सफल रूप से कार्य करता है, जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ी होती है। अतः समाज की प्रक्रियात्मक स्थिति को समझने के लिए नेतृत्व का अध्ययन आवश्यक है।

नेतृत्व की अवधारणा

नेतृत्व एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। यह राजनीति की स्थायी और आधारभूत समस्या है। परन्तु दीर्घ समय तक राजनीति के अन्तर्गत इस समस्या का महत्वपूर्ण अध्ययन नहीं किया गया। यद्यपि इतिहासज्ञों, मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा इसके समुचित अध्ययन पर बल दिया जाता रहा। यह सामान्य रूप से माना जाता रहा है कि कोई भी सामाजिक समूह स्वचालित कार्य नहीं करता, प्रत्येक समूह को एक संगठनात्मक तथा अनुशासनात्मक शक्ति की आवश्यकता होती है जो समूह की संरचना को बनाये हुये सदस्यों को निरन्तर लक्ष्य की ओर अग्रसरित करे। ऐसी शक्ति के न होने पर समूह के अन्तर्गत अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। नेतृत्व वस्तुतः किसी भी संगठन की वही संगठनात्मक तथा अनुशासनात्मक शक्ति है। यही कारण है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से नेतृत्व को किसी भी समूह के लिये अनिवार्य अंग माना जाता रहा है।

भारत के पारम्परिक समाज में नेतृत्व का अध्ययन सामाजिक परिवर्तन के अनेक आयामों को प्रदर्शित कर सकता है। इस प्रकार के समाज में सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया में नेतृत्व न केवल इसके मौलिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है अपितु यह समाज की शक्ति की संरचना और नीति—निर्माण प्रक्रिया के अन्तर्गत इन मूल्यों की अभिव्यक्ति को भी स्पष्ट करता है।

विभिन्न विद्वानों ने नेतृत्व की अवधारणा को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है। शाब्दिक रूप में नेता का तात्पर्य किसी भी ऐसे व्यक्ति से समझा जाता है जो मार्गदर्शक, मुखिया, किसी विषय में कुशल आज्ञा देने वाला अथवा व्यवहार कुशल हो। लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण से नेतृत्व का अर्थ ऐसी स्थिति से समझा जाता है जिसमें कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से किसी दूसरे व्यक्ति के आदेशों का पालन कर रहे हों। यदि किसी व्यक्ति में शक्ति के आधार पर अन्य व्यक्तियों से इच्छित व्यवहार करा लेने की क्षमता है तो इसे भी नेतृत्व की अवधारणा के

* शोधार्थी राजनीति विज्ञान हे.न.ब. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल

अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया जाता है। व्यवहारिक रूप से नेतृत्व व्यवहार का वह ढंग है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार से प्रभावित होने की अपेक्षा अपने व्यवहार से दूसरे व्यक्तियों को अधिक प्रभावित करता है। यह कार्य चाहे दबाव के द्वारा किया गया हो या व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों को प्रदर्शित करके।⁽¹⁾ किसी भी प्रकार का समूह चाहें वह मनुष्य का हो या पशुओं का इसमें सदैव एक ऐसी शक्ति या व्यक्तित्व पाया जायेगा जो कि दूसरों से भिन्न होगा। मानवों के एक समूह के नेता बहुधा सामाजिक रूप से अच्छे अनुकूलित होते हैं। यह वह व्यक्ति होते हैं जो यह जानते हैं कि समूह के अन्य सदस्यों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये ताकि उनका सहयोग प्राप्त किया जा सके। एक समूह का नैतिक स्तर तब तक उच्च नहीं बनाया जा सकता जब तक कि समूह के सदस्यों द्वारा उसे पूर्व रूप से अपनाया न जाये और यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि समूह के नेता द्वारा इस ओर प्रयास न किया जाये। किसी भी समूह में नेता का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि वही अपने नेतृत्व द्वारा समूह की बनावट, समूह के उद्देश्य, समूह के वातावरण, समूह के आदर्शों एवं समूह की क्रियाओं को संचालित करता है।⁽²⁾

वर्तमान व्यक्ति समाज में हमारी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नेतृत्व पर ही आधारित है इसका कारण यह है कि समाज में ऐसे शक्तियों की संख्या कम है जिसमें किसी विषय पर स्वयं निर्णय लेने अथवा परिस्थितियों का पुनर्निर्माण की क्षमता हो। प्रत्येक समुदाय में अधिकांश व्यक्तियों द्वारा थोड़े से व्यक्तियों का अनुसरण मात्र इसलिये किया जाता है क्योंकि उनमें नेतृत्व करने की क्षमता विद्यमान होती है। चिताम्बर ने भी कहा है कि प्रत्येक समाज की शक्ति संरचना के अन्तर्गत कुछ व्यक्ति इतने शक्तिशाली तथा सूझबूझ वाले होते हैं जो दूसरों को प्रोत्साहन, प्रेरणा तथा मार्गदर्शन देकर उनकी क्रियाओं को प्रमाणित करते हैं। इसी विशेषता को नेतृत्व कहते हैं तथा ऐसे व्यक्तियों को नेता, शक्ति धारक, शक्ति सम्पन्न मानव, शक्ति केन्द्र अथवा शक्तिशाली अभिजन कह सकते हैं। इससे आशय है कि जिन व्यक्तियों में एक विशेष समूह तथा समुदाय की समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने की अधिक क्षमता होती है वे स्वाभाविक रूप से एक छोटे अथवा बड़े क्षेत्र का नेतृत्व करने लगते हैं। इसी ष्टिकोण के कारण नेतृत्व एक सामाजिक तथ्य कहा जाता है। नेतृत्व भी एक तुलनात्मक अवधारणा है इसका अभिप्राय है कि जिस व्यक्ति में नेतृत्व के गुण होते हैं उसमें अनुसरण करने के गुण भी पाये जाते हैं लेकिन तब अनुसरण करने की अपेक्षा व्यक्ति की नेतृत्वशील प्रवृत्ति अधिक विकसित हो जाती है और एक बड़ी संख्या में व्यक्तियों द्वारा इसे स्वीकार कर लिया जाता है तथा वह व्यक्ति समूह में नेता की प्रस्थिति प्राप्त कर लेता है। आज के जनतान्त्रिक समाज में समाजशास्त्रियों, समाजनीतिशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों की रुचि नेतृत्व के अध्ययन के प्रति निरन्तर बढ़ती जा रही है।⁽³⁾

नेतृत्व प्राप्ति में सहायक दशाएँ

व्यक्ति समाज में अकेले नहीं रहते, अपितु एक साथ रहते हैं। व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के जाल से ही समाज का निर्माण होता है। यद्यपि सभी व्यक्ति समाज में रहते हैं, फिर भी उनके लिये समाज की राजनीति से सम्बन्ध रखना तथा राजनैतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेना अनिवार्य नहीं है। एक साथ रहने के कारण उनके सम्बन्धों में एक-दूसरे

का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति अन्वों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली, शक्तिशाली एवं सत्ताधारी होते हैं। अतः प्रभाव, शक्ति तथा सत्ता मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों से सम्बन्धित होती है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने नेतृत्व के लिये सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से सम्बन्धित दशाओं का उल्लेख किया है।⁽⁴⁾

अलपोर्ट ने माना है कि शारीरिक शक्ति, तीव्र बुद्धि, प्रेरणा, व्यापक समझ, मधुरवाणी, ढ़ता तथा स्वादिष्टता व्यक्ति के प्रभावशाली होने की सहायक दशाएँ हैं। कॉफिन ने सामाजिकता, प्रेरणा, संकल्प, सामाजिक संवेदना एवं संयम को नेतृत्व प्राप्ति में सहायक पाया है।

बर्नाड ने अपने शोध में पाया कि शारीरिक शक्ति, तीव्र बुद्धि, मानववादिता, अधिक हिम्मती, कायान्वयन की क्षमता, गंभीरता, संवेगों को प्रभावित करने की क्षमता, आत्मविश्वास, साहस, दूरदर्शिता, सहानुभूति, ईमानदारी तथा विश्वास परायणता, नेतृत्व प्राप्ति में सहायक होते हैं।

टर्मन ने कम भावुकता, अधिक हिम्मती होने को प्रभावशाली महत्वपूर्ण सहायक दशा के रूप में पाया। लुईस ने नेतृत्व में अधिक सम्पत्ति, शिक्षा, परिवार की प्रतिष्ठा, बाहर के लोगों से सम्बन्ध अवकाश, शक्तियों के गुण तथा परिवार में सदस्यों की अधिक संख्या को आवश्यक सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशाओं को महत्वपूर्ण पाया। श्रीवास्तव ने नेतृत्व के लिये सामाजिक, सांस्कृतिक दशाओं में अधिक सम्पत्ति, उच्च जाति, राजनैतिक नेताओं से सम्बन्ध, उच्च वर्ग, ईमानदारी, अधिक आयु वर्ग तथा सरकार को प्रभावित करने की क्षमता को प्रभावशाली बताया।

अन्सारी ने सामाजिक सांस्कृतिक दशाओं को ध्यान में रखकर ऐसे तत्वों का उल्लेख किया जो कि नेतृत्व में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में सहायक होते हैं जैसे पारिवारिक प्रतिष्ठा, अधिक आयु, अवकाश का समय तथा अनुयायियों की संख्या का समाधान। बेकन होमर ने आर्थिक शक्ति, शिक्षा, उच्च जाति, शक्तिशाली दल तथा बाहरी लोगों से सम्बन्ध को नेतृत्व प्राप्ति में सहायक बताया। सेन एवं राय ने नेतृत्व प्राप्ति में सहायक दशाओं में निम्न दशायें जिनमें उच्च आर्थिक शक्ति, उच्च शिक्षा, उच्च जाति, राजनैतिक ज्ञान तथा धर्म—निरपेक्षता को विशेष रूप में उत्तरदायी माना है। एसी.सी. दुबे ने नेतृत्व में निम्न दशाओं को सहायक पाया — सम्पत्ति, धर्म, जाति, सरकारी नौकरी तथा संगठनों में व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण, प्रास्थिति, बातचीत की योग्यता, भू—स्वामित्व तथा वृद्ध आयु।

ढिल्लन ने निम्न दशाओं को नेतृत्व प्राप्ति में सहायक पाया — धन सम्पन्नता, शिक्षा, सार्वजनिक कार्यों में रुचि, अधिक आयु, बाहरी लोगों से सम्बन्ध, प्रतिष्ठित उच्च परिवार, बोलने एवं निर्णय करने की क्षमता, आतिथ्य सत्कार, बड़ा परिवार, अवकाश का अधिक समय तथा अधिक भू—स्वामित्व।

बर्नवास ने अधिक शिक्षित, उच्च सामाजिक स्थिति तथा अधिक भू—स्वामित्व को नेतृत्व प्राप्ति में सहायक पाया।

अय्यनागर ने निम्नांकित सामाजिक, सांस्कृतिक दशाओं को नेतृत्व प्राप्ति में सहायक पाया — उच्च एवं श्रेष्ठ, अनुयायियों में रुचि, सेवा एवं सहायता, ईमानदार तथा सदाचार। राउट ने उच्च जाति, उच्च आय वर्ग, 40 से 50 के बीच आयु, कृषि तथा व्यापार को नेतृत्व प्राप्ति के लिये सहायक दशाएँ माना है। सिंह एच. ने अपने अध्ययन में नेतृत्व के लिये निम्न दशाओं को महत्वपूर्ण पाया — उच्च जाति, अधिक भूमि, युवा आयु तथा उच्च शिक्षा। राय ने नेतृत्व प्राप्ति के लिये निम्न दशाओं को उत्तरदायी माना — अधिक शिक्षित, उच्च आय, धर्म निरपेक्ष, बड़े परिवार तथा प्रचार ऐजेन्सियों से सम्बन्ध।⁽⁶⁾

कर्बे ने शिक्षित, परिपक्व आयु, दूसरों की सहायता तथा आचरण सम्बन्धी गुणों को नेतृत्व प्राप्ति के लिये सहायक दशाएँ माना है। मेहता ने नेतृत्व के लिये निम्न दशाओं का उल्लेख किया है — अवकाश का अधिक समय, अधिक आयु, गाँव में निवास की लम्बी अवधि। सिरसीकार ने नेतृत्व प्राप्ति में निम्न दशाओं को सहायक पाया — ईमानदार, जन कल्याण कार्यों में रुचि, आकर्षण एवं संगठन क्षमता, निष्कपट, समस्या समाधान की क्षमता, निःस्वार्थ तथा उद्देश्यों के प्रति सद्भाव और निष्ठा।⁽⁶⁾

इस प्रकार अधिकांश शोधकर्ताओं ने अपने-अपने अध्ययनों में उच्च आर्थिक स्थिति, अधिक भू-स्वामित्व, शिक्षा, सार्वजनिक कार्यों में रुचि अथवा समाज सेवा, उच्च जाति, अवकाश का अधिक समय, प्रतिष्ठित एवं बड़े आकार वाला परिवार, उच्च अधिकारियों से सम्बन्ध, अधिक आयु तथा राजनैतिक ज्ञान आदि तत्वों को नेतृत्व प्राप्ति के लिये सहायक दशाओं के रूप में पाया है।

सामाजिक राजनीतिक प्रक्रिया में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखने के बावजूद भी नेतृत्व की निश्चित एवं सर्वसम्मत परिभाषा नहीं दी जा सकती है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से नेतृत्व को परिभाषित किया है। इसलिये नेतृत्व की अवधारणा एक तरफ एक ऐसी सत्ता है जो अन्यो से पूर्ण आज्ञाकारिता और समर्पण चाहती है तथा प्रारम्भ से होकर एक ऐसे निकाय तक बतायी जाती है जो अन्यो से समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सहयोग और सहमति की मांग करे। प्रथम प्रकार के नेतृत्व का प्रदर्शन उन अधिनायकों के अन्तर्गत होता है जो एक विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति समझे जाते हैं, जिन्हें कुछ ऐसी शक्ति प्राप्त है जो दूसरों को स्वयं के अधीन करे।⁽⁷⁾

टाइटस ने नेतृत्व के इसी दृष्टिकोण को विकसित किया है उसके अनुसार “नेतृत्व स्वेच्छा की पूर्ति और अन्य व्यक्तियों द्वारा इसे रुचिकर समझने की कला है।”⁽⁸⁾

आरडबे हैड ने नेतृत्व को एक ऐसी क्रिया बताया है जो दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित कर उन्हें किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सहयोग करने के लिये इच्छानुसार बाध्य करे।⁽⁹⁾ यह परिभाषा नेतृत्व की प्रजातांत्रिक अवधारणा के समकक्ष है।

उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ प्रथम परिभाषा के अनुसार नेतृत्व, स्तर शक्ति और व्यक्तिगत सत्ता के प्रति निष्ठा का द्योतक है तो वहीं दूसरी ओर नेतृत्व, सामूहिक ज्ञान, सहमति और सामान्य आधार पर कार्य पथ के निर्धारण से सम्बन्धित है। हैड की परिभाषा से नेतृत्व के प्राकार्यात्मक स्वरूप का ज्ञान होता है।

पिंगर्स ने एक विशेष परिस्थिति में नेतृत्व को स्पष्ट करते हुये कहा है कि नेता वह है जो दूसरों को प्रभावित करता है तथा नेतृत्व व्यक्ति और पर्यावरण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली धारणा है। यह धारणा उस परिस्थिति का वर्णन करती है जिसमें कोई व्यक्तित्व इस प्रकार स्थान ग्रहण करता है कि उसकी इच्छा, अनुमति एवं अन्तर्दृष्टि ही सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न अन्य सदस्यों को पथ-प्रदर्शित एवं नियन्त्रित करती है।⁽¹⁰⁾

नेतृत्व के प्रकार्यात्मक स्वरूप को स्टोकडिन के द्वारा नायक रूप से परिभाषित किया गया है। उसके अनुसार “नेतृत्व किसी संगठित समूह के कार्यों को प्रभावित करने की एक ऐसी प्रक्रिया है जो समूह के लक्ष्य निर्धारण और लक्ष्य प्राप्ति हेतु की जीत है।”⁽¹¹⁾

इबान्त ने नेतृत्वकर्ता को समूह का एक सदस्य बताया है जो समूह के अन्य सदस्यों को उनके लक्ष्य प्राप्ति हेतु निर्देशित करता है और वह सत्यता में इन लक्ष्यों का निर्धारक भी होता है।⁽¹²⁾

कार्ट राइट एवं जेण्डर ने नेतृत्व सम्बन्ध में कहा है कि “नेतृत्व का सम्बन्ध समूह के सदस्यों के द्वारा किये गये उन कार्यों से है, जो समूह के उद्देश्यों को निश्चित करने में सहायता करते हैं।”⁽¹³⁾ समूह के सदस्यों के बीच अन्तःक्रिया के स्तर को सुधारते हैं तथा समूह की एकता को बनाये रखने एवं समूह को साधन उपलब्ध कराने में सहायक होते हैं। अकोटाकर तथा किम्बाल यंग ने नेतृत्व को प्रभुत्व के स्वरूप में स्वीकार किया है। अकोटाकर के अनुसार “नेतृत्व एक विशेष परिस्थिति में एक शक्ति का अनेक व्यक्तियों पर पारस्परिक प्रभुत्व है।”⁽¹⁴⁾

किम्बाल यंग ने नेतृत्व को प्रभुत्व का स्वरूप मानते हुये कहा है कि “नेतृत्व प्रभुत्व का वह स्वरूप है जो प्रभावित एवं नियन्त्रित होने वाले सदस्यों द्वारा कम या अधिक रूप में अपनी इच्छा से स्वीकार किया जाता है।”⁽¹⁵⁾

कुछ विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में नेतृत्वकर्ता के व्यवहार को महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार यह एक ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को नेतृत्वकर्ता के व्यवहार से अधिक प्रभावित करता है।⁽¹⁶⁾ टाम्पिल ने कहा है कि “नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति का व्यवहार है जो सामुहिक कार्यों के निर्देशन में संलग्न हो।”⁽¹⁷⁾ टीड ने भी नेतृत्व को किसी लक्ष्य को प्रभावित करने की एक क्रिया बताया है।

मैकाइवर एवं पेज के दृष्टिकोण में “नेतृत्व व्यक्तियों को प्रभावित करने अथवा निर्देशित करने की वह योग्यता है जो व्यक्तिगत गुणों से जानी जाती है न कि किसी पद द्वारा।”⁽¹⁸⁾ बोगार्ड्स ने “नेतृत्व को अभिसंख्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण और सांस्तिक प्रतिमानों के परिवर्तन की प्रक्रिया माना है।”⁽¹⁹⁾ नेतृत्व को व्यक्ति के एक विशिष्ट गुण के रूप में समझा जाता है। इस सन्दर्भ में किसी समूह के सदस्यों द्वारा नेतृत्व के प्रति स्वैच्छिक और सक्रिय भागीदारी, समूह के पारस्परिक सम्बन्धों, दृष्टिकोण और कार्यों में दृष्टिकारक होती है।

फ्रेलेमिंग के अनुसार “नेतृत्व व्यक्तित्व की भाँति अनेक विरोधी तत्वों से निर्मित होता है, जिसमें कोई भी तत्व किसी दूसरे तत्व से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता।”

नेतृत्व को किसी विशिष्ट व्यवस्था में किसी व्यक्ति की विशिष्ट भूमिका भी माना जाता है। नेतृत्व व्यक्ति के दृष्टिकोण को नहीं अपितु विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था में उसकी भूमिका के गुण को कहते हैं।⁽²⁰⁾

सीमोन तथा मॉरिस ने “नेतृत्व को किसी एक व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला ऐसा कार्य माना है जो दूसरे व्यक्तियों को एक विशेष दिशा में प्रभावित करता है।” इससे स्पष्ट होता है कि दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित करना ही नेतृत्व नहीं है बल्कि नेतृत्व उनके व्यवहारों को एक निश्चित या इच्छित दिशा की ओर मोड़ना है।⁽²¹⁾

लेपियर ने नेतृत्व को नेता और उसके अनुयायियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के आधार पर परिभाषित किया है। लेपियर तथा फार्नसवर्थ ने नेतृत्व को ऐसा व्यवहार माना है जो दूसरे लोगों के व्यवहारों को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है जितना कि दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार नेता को प्रभावित करते हैं।⁽²²⁾

टीड ने नेतृत्व को एक क्रिया माना है जिसके द्वारा वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये लोगों को सहयोग देने के लिये प्रभावित किया जा सके।⁽²³⁾

सामाजिक विश्वकोष में ‘नेतृत्व’ को सामाजिक सम्बन्धों अथवा समूहों, एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के प्रभावशाली एवं सत्ता में होने की स्थिति बताया गया है। यह लोगों को प्रोत्साहित करने और निर्देशित करने की वह योग्यता है जो पद के अलावा व्यक्तिगत गुणों से आती है। नेता का कार्य मुख्यतः समूह की गतिविधियों को समूह के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये समन्वित करना है। नेतृत्व की प्रतिष्ठा एवं सफलता प्रायः समूह के विशेष सामाजिक कार्यकलापों, सूचनाओं तथा निर्णयों आदि के सन्दर्भ में आँकी जाती है।⁽²⁴⁾

समाज वैज्ञानिकों के मध्य नेतृत्व के स्पष्ट अर्थ पर पारस्परिक सहमति नहीं है परन्तु विद्वानों के विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट होता है कि नेतृत्व व्यक्तित्व एवं सामाजिक परिस्थितियों के बीच परस्पर अन्तःक्रिया होते रहने के परिणामस्वरूप व्यक्ति विशेष अपने गुणों और क्रियाओं से समुदाय को प्रभावित करता है जिसके फलस्वरूप समुदाय के सदस्य उसकी ओर आकर्षित होकर उसका अनुसरण करने लगते हैं। परन्तु इसके साथ ही मनोवैज्ञानिक कारकों को नेतृत्व के विकास में उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता जितना कि सांस्कृतिक वातावरण को।

निष्कर्ष— नेतृत्व एक सामाजिक घटना है क्योंकि सामाजिक, सांस्कृतिक सीमाओं द्वारा ही नेता की उत्पत्ति होती है। वह समाज का एक प्रभावशाली व अनुकरणीय व्यक्ति होता है तथा जन समूह पर अपना विशेष प्रभाव छोड़ता है। किन्तु ध्यान रखने योग्य है कि नेतृत्व स्वयं में कुछ सहायक दशाओं का परिणाम होता है, जिसमें नेता का व्यक्तित्व एवं सहायक परिस्थिति यथा—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक तत्वों का भी योगदान रहता है।

1. अग्रवाल गोपाल कृष्ण, पाण्डेय शील स्वरूप, ग्रामीण समाजशास्त्र, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा, मथुरा, 2010—11, पृ 280.
2. माथुर एस0एस0 समाज मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1998 / 99, पृ0421
3. अग्रवाल गोपाल कृष्ण, पाण्डेय शील स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ0 249

4. शर्मा हरिओउम, ग्रामीण नेतृत्व के उभरते प्रतिमान, अर्जुन पब्लिकेशन हाउस, अंसारी रोड, दरियागंजस नई दिल्ली, 2004, पृ0 79
5. पूर्वोक्त, पृ0 80
6. पूर्वोक्त, पृ0 81
7. हैड, आरडबे, द आर्ट ऑफ लीडरशिप, न्यूयॉर्क, मैग्रो हिल बुक कम्पनी, 1956, पृ011
8. टाइट्स, सी0 डब्लू0, द प्रोसेस ऑफ लीडरशिप, लोबास, डब्लू0सी0 ब्राउनी कम्पनी, 1950, पृ 372
9. हैड, आरडबे, पूर्वोक्त, पृ0 12
10. शर्मा हरिओउम, पूर्वोक्त, पृ02
11. स्टॉकडिल, राल्फ0 एम0, लीडरशिप, मैम्बपशिप एण्ड औरगनाईजेशन, साइकोलोजिकल बुलेटिन, 1950, पृ0 47
12. इबात, ए0एम0, सोसियोमेट्री एण्ड एजुकेशन, लन्दन, रुटलैस एण्ड कैगन पौल, 1926, पृ0 56
13. शर्मा हरिओउम, पूर्वोक्त, पृ0 2, 3
14. पूर्वोक्त, पृ0 2
15. पूर्वोक्त, पृ02
16. प्रिवरिफ, एफ0 रिचर्ड, सोशियल साइकोलोजी, न्यूयॉर्क, मैग्रो हिल बुक कम्पनी, 1942, पृ0 178
17. हामाफिल, के0 जौन, सिचुयेशनल फैक्टर्स इन लीडरशिप, कोलम्बस, द ओहीओ एस्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, 1943, पृ0 3
18. शर्मा, हरिओउम, पूर्वोक्त, पृ092
19. बोगार्ड्स, ई0एम0 फण्डामेंटल ऑफ सोशियल साइकोलोजी न्यूयॉर्क, एम0 प्लेटम सेन्सरी क्रापटस, 1950, पृ0 202
20. फ्रेलेमिंग, ई0जी0, ए फैक्टर एनेलिसिस ऑफ पर्सनेलिटी ऑफ हाईस्कूल, लीडर जनरल ऑफ अप्लाइड साइकोलोजी, 1935, पृ0 19
21. अग्रवाल गोपाल कृष्ण, पाण्डेय शील स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ0 280
22. शर्मा, हरिओउम, पूर्वोक्त, पृ0 2
23. अग्रवाल गोपाल कृष्ण, पूर्वोक्त, पृ0 281
24. सिंह, जे0पी0, सामाजिक विश्वकोष, अशोक के0 घोष, पी0 एच0 आई लर्निंग प्राईवेट लिमिटेड, कनॉटस सर्कस, नई दिल्ली

अग्निपुरुष कवि श्रीराम "प्रेम"

बिमला चमोला*

श्री राम 'प्रेम' उस पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि है। जिन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक से अपनी काव्य यात्रा आरम्भ की और स्वतंत्रता के बाद भी लिखते रहे। 1916 फरवरी 20 दोस्तपुर जिला सुल्तानपुर अवध में इनका जन्म हुआ इनके पिता का नाम पंडित रविदत्त उपाध्याय था और इनके दादा श्री राजकोट उपाध्याय 1857 के सशस्त्र विप्लव में अंग्रेजों के विरुद्ध तलवार लेकर जी जान से लड़े थे। 1928 ई० में इन्होंने मीडिल परीक्षा उत्तीर्ण की तथा 1929 में संस्कृत पाठशाला में अध्यापक नियुक्त हुए किन्तु कुछ समय बाद ही नौकरी से त्याग पत्र देकर महात्मा गाँधी के सम्पर्क के लिए साबरमती पहुँचे। 16 वर्ष की आयु में स्वतंत्रता संग्राम के सिपाहियों की टोली में सम्मिलित हो गए। पुलिस की लाठियाँ सही, जेल गए, इन्हीं संघर्षों के बीच कविता भी लिखते रहे। प्रेम जी की रचना को मात्र छह काव्य संग्रहों में समेट लिया गया है।

- (1) अंगारें — 1945 ई०,
- (2) दिल्ली चलों — 1946 ई०,
- (3) जलती निशानी — 1946 ई०,
- (4) श्रद्धांजलि — 1948,
- (5) युग चरण — 1969 ई०,
- (6) जलती धरती झुलसे पाँव — 1972,

वे ओज और ऊर्जा के कवि थे। स्वतंत्रता संग्राम के वे कर्मठ सेनानी थे। उनका जीवन संघर्षों की भट्टी में तप कर निखर उठा था। उनके गीत इस बात के साक्षी हैं। उन्हें दीर्घ जीवन मिला होता, तो उनकी कविताओं में और भी निखार आता, स्वाधीनता से पूर्व और स्वाधीनता के बाद की उनकी कवितायें इस बात की साक्षी हैं, सर्जक ताक निरन्तर विकसित होता है। जैसे की उन्होंने स्वयं लिखा है— 'कि संघर्ष की ये रचनायें, किनारे पर बैठ कर नहीं, संघर्ष कवि में तूफानों के बीच खड़े होकर लिखी गई है। चाहे 1942 की रक्त रंजित क्रान्ति के दिन हों या जेल की कोठरी हो, मेरा स्वर कहीं भी अवरुद्ध नहीं हुआ। प्रलोभन लुभा नहीं सकें, भय झुका नहीं सकें"। "स्वराज्य के बाद उनके जन-जन तक पहुँचाने का संघर्ष, इसमें भी मेरी लेखनी सरकारी चाटुकारिता में न फंसकर निरन्तर जन-जन की वाणी बनकर गुंजती रही। मैं हनुमान की तरह मोतियों को तोड़कर राम नाम खोजने की तरह देश के दीन-दलितों की सुख-सुविधा खोजता रहा। जहां वह नहीं दिखाई दे, वहाँ मेरा स्वर शासन के प्रति अन्याय के प्रति, शोषण के प्रति प्रखर हुआ।" इन शब्दों में अहंकार की ध्वनि सुनाई दे सकती है पर उनकी कवितायें इस बात की साक्षी है कि कवि का अहंकार यदि उसे अहंकार माना जाए तो, वह तथ्यों पर आधारित है। वह एक सैनिक का अहंकार है। अपने शब्दों में जीने वाले सर्जक का अहंकार है। वे स्वाधीनता-संग्राम के कवि है। देश की स्वाधीनता के

* हिन्दी विभाग, रा०म०वि० कर्णप्रयाग, चमोली, उत्तराखण्ड

लिए उन्होंने कारावास भी किया। फिर भी उनकी दृष्टि 'राष्ट्रवाद' से दूषित नहीं हुई। वह विश्व-दृष्टि ही बनी रही —

यह जगत होगा हमारा
ओर हम होंगे जगत के
दूर होंगे दुःख सारे,
नियति के कटु काल गति के
एक नव संसार होगा
विश्व का सब विश्व वैभव
फिर बनेगा विश्व अभिनव।

ऐसे व्यक्ति को अहंकार छू भी नहीं सकता। यह ता स्वाभिमान की वाणी है। जेल में बैठ कर जहाँ वह देश की आजादी के गीत गाता है।

देश में उठा एक तूफान
जवानी मचली सीना तान,
देश के जागे दीन किसान,
जगे मजदूरों के अभिमान,
चल पड़े सिंहों की सन्तान,
हथेली पर लेकर जान,
गुलामी सहम गई भयमान,
देश ने किया विकट बलिदान,
किया तुमने नेतृत्व प्रदान,
शक्ति दुश्मन ने पहचानी,
देश के नूतन सेनानी।

और वहीं वह 'मजदूर' के आँसू में क्रांति की झलक भी देख लेता है —

आज उसके पास क्या है।
सुनोंगे। मेरी जुबनी
एक यह कंकाल केवल
आँख में दो बूँद पानी।
क्रान्ति की जिसमें झलक
पड़ता, विमल संदेश प्यारा।
हा। पड़ा है राज पथ पर —
एक कोने में विचारा।।

यह मिटेगा, मिट नहीं –
सकती मगर इसकी कहानी ।

वह शहीदों को भी नहीं भूलता और गान्धी को भी नहीं । श्री देव सुमन हो, चन्द्रशेखर
आजाद हों, वह किसी को प्रमाण करना नहीं भूलता –

लो प्रमाण हम आयेंगे फिर अपनी बात सुनाने,
स्वतन्त्रता की दीपशिखा के ओ पागल परवाने ।
वह गान्धी, "जिसकी मुट्ठी भर हड्डी में सिमटा

हिन्दुस्तान,"–

जिसके इंगित पर भारत में,
रण चण्डी करती है नर्तन,
और जो ईसा, गौतम, के बाद विश्व को, देने आया—प्राण
दान ।" उसकी हत्या पर उसका हृदय विलख उठा –
जो मानव का मानवता का सच्चा हित वेता था ।
निखिल विश्व की पीड़ित जनता का अकेला नेता था,
जिसके एक इशोर से रूकती चलती थी, आँधी ।
किसने छीन लिया है हमसे हमारा गाँधी ।

लेकिन इस घड़ी में भी उसका विश्वास नहीं टूटता । वह चुनौती देती है—

तेज पुंज को अंधकार ने अपना ग्रास बनाया ।
पर प्रकाश को रोक सकी अन्धकार ही छाया ?

देश स्वतन्त्र हुआ, सपने पूरे हुए स्वतन्त्रता सेनानियों के । वह स्वतन्त्रता का स्वागत
करता है –

आज हिमालय की चोटी पर उड़ा तिरंगा प्यारा ।
लाल किले पर गुंज उठा, "जय हिन्दी" का नारा ।
जनता के हाथों में अपने शासन की डोरी है ।
पर हम लेंगे चैन, जबकि हो देश सिद्ध हमारा ।
हिन्दू—मुस्लिम, सिख, पारसी सब हो एक इकाई ।
शत्—शत् वर्षों बाद देश में फिर स्वतन्त्रता आई ।

वह नव निर्माण और एक नए देश के सपने देखता है और उसे परिवर्तन का शंखनाद भी सुनाई देता है। वह कह उठता है कि —

चाहे जितना रोको, जनता की जय आयेगी।
न तुम रोक सकते हो, न तुम से रोकी जायेगी।।

लेकिन बहुत शीघ्र वह देख लेता है कि वे सपने, मृग—मरीचिका बन गये हैं —
बिजली, पुतलीधरों, बाँध नहरों की ही गिनती है।
बना कहाँ इंसान, बता दो कोई यह विनती है।

और इंसान की खोज में एसका मोहभंग होता रहता है, अन्ततः भक्ति अन्तसः चीत्कार कर उठता है।—

त्याग, भक्ति प्रेम सभी हो चुके हवन।
व्यर्थ शब्द अर्थ हीन हो रहे दफन।
जिन्दगी कफन लपेटती हुई चली।
चीखती धरा, यही पुकारता गगन।
आवो हम संस्कृतियों की परतें खोलें।
झूट बहुत बोल चुके आवों सच बोले।

और वह चेतावनी देते हुए कहते हैं—

दिल्ली केवल देश नहीं है ओ दिल्ली वालो।
केवल अपना ही हिस्सा लो, छीन झपट वालो।
कोटि—कोटि के लिए अभी भी जीना दूभर है।
उनका भी अधिकार उन्हें देना दिल्ली वालो।
मजबूरी तूफान बनेगी, धनवन्तों संभलों।
नूतन सामन्तों संभलो।।

कवि तो क्रान्तिदृष्टा है। वह क्षितिज के उस पार देख लेता है। 1972 में लिखे कवि श्रीराम शर्मा “प्रेम” के ये शब्द आज और भी सत्य हो उठे हैं। चेतावनी ओर भी मुखर हो आई है। काश! दिल्ली वाले उस चेतावनी पर ध्यान दे सकें। ऐसे भविष्यदृष्टा कवि की स्मृति को मेरे शत् शत् प्रणाम। रचनाओं के शब्द—शब्द से कवि का व्यक्तित्व, उसका जीवन, उसका दर्शन उद्भासित होता प्रतीत होता है और प्रसंगवश कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की पंक्ति इस सब को शीर्षबद्ध करती प्रतीत होती है— “आग अन्तर में लिए पागल जवानी”, मेरी स्मृति में क्रौंधती इस पंक्ति को कवि के जीवन, दर्शन, कृतित्व और व्यक्तित्व का शीर्षक घोषित करती है। जय प्रकाश नारायण ने ‘प्रेम’ की कृतियों पर टिप्पणि करते हुए कहा है —

“श्रीराम प्रेम की कृति में यर्थात का चित्रण भी है और मार्ग दर्शन भी। प्रेम जी के गीत हमारे समाज की वेदना और उसके क्रान्तिकारी उत्साह की अभिव्यंजना करते हैं।”

तथा —

“हम सब कुछ भूल जायें और विजय चौक नई दिल्ली से हवालात तक ही याद रखें तो जाग्रत ज्वलन्त व्यक्तियों की राष्ट्रीय सूची बनाते समय श्रीराम शर्मा के नाम की अपेक्षा नहीं कर सकते।”

कवि के अन्तर की आग और उसकी जवानी की ऊर्जास्वीता का परिचय मिलता है। उनकी निम्न पंक्तियों से —

“फिर बनेगा विश्व अभिनव
क्रान्ति की चिंगारियों से
अनल की सुकुमारियों से
अब जला कर भार कर —
दूँगा, तभी इन क्यारियों से
शीघ्र उठ की खिल उठेंगे
पुष्प नूतन सरस नव—नव
फिर बनेगा विश्व अभिनव”

और इस अंतर के पागलपन से परिचित कराती है। कवि की निम्नपंक्तियाँ :—

“यह जगत होगा हमारा
और हम होंगे जगत के,
दूर होंगे दूख सारे
नियति के कटू—काल—गति के
एक नव संसार होगा
विश्व का सब विश्व—वैभव
फिर बनेगा विश्व अभिनव”

महाक्रान्ति आमंत्रित करने का आवाहन करने वाले कवि ने अपना जीवन ही नहीं, इस महाक्रान्ति को समर्पित किया था। महात्मा गाँधी के आह्वान पर स्वाधीनता—संग्राम में कूद पड़े और क्रान्तिकारी आंदोलन में भी सक्रिय योगदान दिया। पण्डित कन्हैलाल मिश्र “प्रभाकर के शब्दों में, “श्रीराम शर्मा उनमें से हैं, जो प्रशिक्षण प्राप्त किए ही पैराशूट लेकर हवाई जहाज से कूद पड़ने का दम रखते हैं। “कवि श्रीराम शर्मा “प्रेम” रचना को क्रान्ति का आयुध मानते थे। उन्होंने लिखा है— “मुझे इनसे! रचनाओं से मोह है। पाठक मेरी मन स्थिति को समझकर इन्हें चाहे तो अंगीकार करे और सुखद भविष्य के लिए संघर्षरत हो। एक बात निश्चित है कि संघर्ष समाज को देने के लिए हो, पाने के लिए

नहीं।" वे निजी संघर्ष की भी सामाजिक अर्थवत्ता को ही महत्व देते थे। वे राजनैतिक क्रान्ति के ही नहीं, समाजिक और आर्थिक क्रान्ति के भी अग्रदूत थे तथा सर्वहारा के सच्चे कवि और प्रतिनिधि थे। सहज, सरल, आडम्बरहीन एवं प्रवहमान भाषा एवं छन्दों से अलंकृत उनकी कविताएँ पाठक एवं श्रोता के मन में सीधे बैठ जाती थी। वे आशा और उत्साह के कवि थे। उनका उद्घोष था –

“मैं नूतन पथ निर्माता हूँ
मैं अपनी राह बना लूँगा”।

उन्हें अपनी राह बनानी आती थी। इस पथ निर्माता कवि के सन्दर्भ में बात “आग अंतर में लिए पागल जवानी” के शीर्षक की चल रही थी। जवानी के विषय में इस तूफानी कवि का मानना था –

“यौवन। वह यौवन क्या?
जिसमें उठता आता तूफान न हो—
यौवन। वह यौवन क्या?
जिसमें कुछ करने का अरमान न हो
यौवन। वह यौवन क्या?
जिसमें, अपनेपन की पहचान न हो
यौवन। वह यौवन क्या?
जिसमें हाथों पर अपनी जान न हो।”

तो अपनेपन की पहचान को सहेजते हुए, कुछ करने का अरमान मन में संजोये यह योद्धा कवि “हाथों पर अपनी जान लिए” चलता था। स्वाधीनता—संग्राम के इस सैनानी कवि का स्वप्न आजादी आ जाने पर से पूरा नहीं हुआ— अपितु उल्टा स्वप्न टूटा है।

“किन्तु देश की सुख समृद्धि पर जिसका पहरा है।
अभी करोड़ों क प्रति जिनका अन्तर बहरा है
लालकिले को नहीं जरा झोपड़ियों को झांको
उदित प्रकाश—पूँज लेकिन तम अब भी गहरा है
सूर्य छिपाये हुए जाल में, हनुमन्तों सम्हलो
नूतन सामन्तों सम्हलों”।

स्वाधीनता, शान्ति, समता, मानवीय करुणा एवं विश्वबन्धुता की चेतना की जाग्रति के लिए क्रान्ति का आहवान करने वाले किसानों, मजदूरों, शोषितों, पीड़ितों की अस्मिता के लिए संघर्ष करने वाले इस कवि के मृदु स्वप्न को स्वाधीन भारत के नये वातावरण में चोट पहुँची, किन्तु चोट खाकर सपना टूट जाने से कवि नहीं टूटा, उसका संघर्ष अनवरत जारी रहा। रामावतार त्यागी की यह काव्यपंक्ति सचमुच नहीं टूटी वह आकृति। आज भी अपनी कविताओं के माध्यम से जन—जन के मन में समायी है। वह मंजुल मूर्ति —

संदर्भ ग्रन्थ

"श्रीराम प्रेम"

- | | | | |
|----|-------------------------------------|---|-------------------|
| 1. | "अंगारे" की भूमिका से | — | काव्य संग्रह 1945 |
| 2. | "नवभारत टाइम्स" में प्रकाशित लेख से | — | काव्य संग्रह 1946 |
| 3. | दिल्ली चलो | — | काव्य संग्रह 1946 |
| 4. | जलती निशानी | — | काव्य संग्रह 1946 |
| 5. | श्रृद्धांजलि | — | काव्य संग्रह 1948 |
| 6. | युगचरण | — | काव्य संग्रह 1969 |
| 7. | झुलसे पॉव | — | काव्य संग्रह 1972 |

हिन्दी की स्थिति – भाषा और लिपि के सन्दर्भ में

डा. निधि कश्यप*

देश को स्वतंत्र हुए 67 वर्ष हो चुके हैं। किसी भी राष्ट्र के समुचित विकास और विभिन्न क्षेत्रों में अत्मनिर्भरता के लिए यह अवधि कम नहीं है। यूँ तो हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है, लेकिन क्या सच में हमने इसकी लोकतांत्रिक परम्पराओं का सम्मान करना सीखा है? हमारे व्यवहार में कथनी और करनी का अन्तर बढ़ता ही जा रहा है, जिस पर हमें गहरे आत्मचिन्तन की आवश्यकता है।

हमारे देश के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है, कि यह एक बहुभाषा-भाषी देश है। यहाँ की उन्नत भाषाओं का समृद्धसाहित्य राष्ट्र की बहुत बड़ी धाती है। भारतीय संविधान में सर्वगुण सम्पन्न बाईस भाषाओं को आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ये भाषायें आधुनिक इस अर्थ में हैं कि इन्होंने समय के साथ चलकर अपने बोलने वालों की जरूरतें पूरी की हैं। ये जीवन्त और विकासशील हैं। ये आधुनिक विचारों को वहन करने में कभी पीछे नहीं रही। इनका साहित्य समाज की कसौटी पर खरा उतरा है। भाषा विचारों को आदान-प्रदान करने का एक सशक्त माध्यम है तथा इसका पहला कार्य होता है—सम्पर्क स्थापित करना। यह दो व्यक्तियों या व्यक्ति समूह के बीच सेतु का काम करती है। विश्व में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे अभिव्यक्ति का इतना बड़ा यंत्र उपलब्ध है। भाषा हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। भाषा मनुष्य की संवेदना और उसके चैतन्य के बीच का सेतु है। किसी समाज का निजी शक्ति की परख उसकी भाषाई क्षमता और संस्कृति से होती है। मनुष्य विश्व के क्रिया कलापों को आत्मसात् कर अपनी चिन्तन शक्ति से जीवन के जिन रचना परम औदात्य को समाज के लिए मानक रूप में प्रस्तुत करता है, वे ही धीरे-धीरे संकलित होकर उसकी संस्कृति का सृजन करते हैं। इस प्रकार संस्कृति लोगों के अर्जित आचार विचारों की एक व्यवस्था है। इन्हीं आचार विचारों को सुरक्षित रखने तथा प्रकट करने का कार्य भाषा और लिपि करती है। भाषा एक माध्यम है, जिसके द्वारा लोग अपनी बातें एक दूसरे तक संप्रेषित करते हैं, विचारों का आधान प्रदान करते हैं।

चिन्तन प्रक्रिया से प्रत्यक्ष संबंधित होने के कारण भाषा चिन्तन के परिणामों और ज्ञानात्मक सक्रियता की उपलब्धियों को एकत्र करती है और लिपि उन्हें शाब्दिक आधार प्रदान करती है, शब्दों को वाक्यों में पिरोती है, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों की अभिव्यक्ति को गरिमा प्रदान करती है।

भाषा देश की अस्मिता की द्योतक होती है। यह समूची संस्कृति और परम्परा की संवाहिका है। भाषा देश के इतिहास का वह दर्पण है जिसमें भविष्य को देखा जा सकता है। इन्हीं समृद्ध और सशक्त भाषाओं में से एक है। हमारी लोकप्रिय भाषा हिन्दी भारतवर्ष का स्वाभिमान है। हिन्दी में वास्तविक रूप से भविष्य की झांकी देखी जा सकती है। हिन्दी भारतीय संस्कृति की अस्मिता की पहचान है। स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दी और यहाँ की लोक

* विभागाध्यक्षा हिन्दी विभाग, पी0पी0एन0 महाविद्यालय, कानपुर

भाषाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यही वह भाषा थी जिसके माध्यम से स्वतंत्रता की जो लौ जलाई गई, वह मात्र राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए ही नहीं थी, वरन सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए भी प्रमुख थी। भारत में साहित्य, संस्कृति और हिन्दी एक दूसरे के पर्याय रहे हैं—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिये को सूल ॥
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि, सब गुन होत प्रवीन¹

निज भाषा ज्ञान विन जी ने इन पंक्तिओं के माध्यम से वह सब कुछ कह दिया जो उन्हें हिन्दी के लिये कहनी थी। उनका मकसद भारतीयों के दिलों में अपनी भाषा के प्रति प्रेम तथा आदर भाव जगाना था, वह जगाया भी और आज उसी भाव ने हिन्दी को एक नई दिशा प्रदान की है तथा यही नई दिशा अब राष्ट्रीय से अन्तरराष्ट्रीय होकर अन्य भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी के लिये चुनौती बनी हुई है।

किसी भी विदेशी भाषा से हिन्दी का कोई वैमनस्य नहीं है। बल्कि हिन्दी में तो विदेशी भाषाओं को आत्मसात् करने की अपनी प्राकृतिक शक्ति है। अंग्रेजों ने जब भारत पर अंग्रेजी थोपने की योजना बनाई होगी तो उन्होंने कभी यह सोचा भी नहीं होगा कि एक दिन ऐसा भी होगा जब अंग्रेजों को भारत के लोग इडियनाइज कर देंगे। दुनिया भर में जो विभिन्न प्रकार की अंग्रेजी प्रचलित है उनमें से एक है इंडियन — इंग्लिश। इस अंग्रेजी में अंग्रेजी के अनेक मूल शब्दों को भारतीय करण हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा-विषयक भारतीय ऊर्जा न केवल अपनी भाषाओं की रक्षा करने में सक्षम है, बल्कि इसमें अन्य भाषाओं को समाहार करने की शक्ति भी है। कवि स्व. वीरेन्द्र मिश्र ने हिन्दी के प्रति जो उद्गार प्रकट किये थे —

‘इसका स्वाद प्रसाद बहुत है, जन भाषा रसवन्ती
ऋतुओं में वासंती है यह, रागों में मधुवन्ती ।
भाषायें हो चाहे जितनी, यह सब की हमजोली
स्वागत करती हिन्दी सबका, बिखरा कुंकुम रोली ।’

खुले दिल से सबका स्वागत करने वाली हिन्दी ‘जय हिन्द की भाषा है। ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा’ की भाषा है। यह जय जगदीश हरे की भाषा है। यह भाषा वाणिज्य व्यापार में भी निष्णात है, देश की रक्षा में तैनात वीर सैनिकों को एकसूत्र में बांधने वाली भाषा भी यही है। ‘स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्धाधिकार है।’ यह सन्देश जन जन तक पहुँचाने वाली भाषा भी यही है। यह आनन्द और प्रेम की भाषा है।

हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी नमनीयता। इस भाषा में स्वाभिमान है, पर अहंकार नहीं। यह अपने को किसी भी परिस्थिति में उपयोगी बनाना जानती है। इसमें देवभाषा एवं देवलिपि बनने के सारे गुण विद्यमान हैं और लोक भाषा के रूप में विस्तार पाने के सभी लक्षण हैं।

हिन्दी भारत की प्रधान भाषा है। वैसे तो हिन्दी के क्षेत्र में अनेक उतार-चढ़ाव आए, जिसका प्रमुख कारण था भाषावाद के ऊपर 'राजनीति'। राजनीति के दल दल में फंसे होने के बाद भी आज हिन्दी का विस्तार हुआ तथा हिन्दी अपनी जमीन पर विकसित होकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पहुँची है, जो एक प्रबल कदम है। हिन्दी को विकसित करने में जितना योगदान हिन्दी भाषा विद्वानों का रहा है, उतना ही अहिन्दी भाषा विद्वानों का भी रहा है। जिन्होंने न केवल हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप स्थापित करना चाहा, बल्कि पूरे देश में हिन्दी का बिगुल बजाया और विदेशों में भी हिन्दी की वकालत की। गान्धी जी ने कहा –

हिन्दी ही देश को एक सूत्र में बांध सकती है। मुझे अंग्रेजी बोलने में शर्म आती है और मेरी दिली इच्छा है कि देश का हर नागरिक हिन्दी सीख ले व देश की हर भाषा 'देवनागरी लिपि में लिखी जाए।'³

सन् 1940 में बी० बी० सी० हिन्दी सेवा का उदभव हुआ, इसका हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस सेवा ने भारत के प्रत्येक हिस्से को हिन्दी के परिनिष्ठित रूप में अवगत कराया तथा विदेशों में भी इसका प्रसार-प्रचार किया। विश्व मंच पर हिन्दी का परचम लहराने और इसके उत्तरोत्तर विकास के लिए विश्व हिन्दी सम्मेलनों का भी विशेष योगदान रहा है। जिसकी शुरुआत 10-14 जनवरी 1975 से नागपुर में हुई 13-15 जुलाई 2007 को न्यूयार्क में सम्पन्न आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र में हिन्दी विषय पर विद्वानों द्वारा दिए गये व्याख्यानों में हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र की अधिकारिक भाषा के रूप में जगह दी जाए की इसकी पुरजोर वकालत की गई।

यदि इस प्रकार की पहल भारत में होती तो उसका प्रभाव शायद कुछ और होता, क्यों कि तब विदेशी भारत भूमि पर आते, यहाँ की भाषा, संस्कृति से रू-ब-रू होते और अपने यहाँ भी प्रचारित-प्रसारित करते। बोलना ही किसी भाषा को संजीवनी शक्ति देता है। हिन्दी लोकतांत्रिक ढंग से पूरे भारत में ही नहीं, देश-विदेश में भी स्वयं अपना स्थान बना रही है। उसे शासन की दरकार नहीं है, इसे खुद राष्ट्रीय सम्पर्क के रूप में जनता द्वारा फैलाया जा रहा है।

भौतिक शास्त्र का एक नियम है कि किसी पदार्थ पर जितना अधिक दबाव डाला जाए, वह उतना ही ऊपर उठकर आता है। यह वैज्ञानिक नियम आज निश्चित रूप से हिन्दी भाषा पर लागू हो रहा है। हिन्दी को जितना अधिक दबाया जा रहा है, वह उतनी ही उभरकर अपने अस्तित्व को विश्व पटल पर उजागर कर रही है।

दुनिया की ऐसी कौन सी जगह है जहाँ भारतीय न हो। विश्व के अनेको देशों में आज हिन्दी प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक पढ़ाई जा रही है। अमेरिका की डा० शोमर का कहना है कि— अमेरिका में ही 113 विश्वविद्यालयों और कोलेजों में हिन्दी अध्ययन की सुविधा उपलब्ध है, जिसमें से 13 शोधस्तर के केन्द्र हैं। इस समय विश्व के 143 विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण की विविध स्तरों पर व्यवस्था है।⁴

विदेशों में लगभग 25 से अधिक पत्र पत्रिकाएं नियमित रूप से हिन्दी में प्रकाशित की जा रही हैं। अमेरिका जो बेहतर शिक्षा एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सभी विकसित एवं विकासशील देशों में अग्रणी है उसने भी हिन्दी भाषा की किसी न किसी रूप में वकालत की है। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने राष्ट्रीय सुरक्षा भाषा कार्यक्रम के तहत अपने

देशवासियों को हिन्दी, फारसी, अरबी, चीनी व रूसी भाषाएं सीखने को कहा था। अमेरिकी राष्ट्रपति ने स्पष्टतया घोषणा की थी कि 'हिन्दी ऐसी विदेशी, जिसे 21वीं सदी में राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि के लिए अमेरिका के नागरिकों को सीखना चाहिए।'⁵

उन्नीसवीं सदी में यह भाषा मॉरिशस, सूरीनाम, फिजी, गुयाना, त्रिनिदाद, दक्षिण अफ्रीका, जमैका, टोबैगो व वर्मा तक जा पहुँची है और अब इनमें से कई स्वतंत्र देशों की सांस्कृतिक अस्मिता का कसौटी बन गई है। बीसवीं सदी में हिन्दी का देशव्यापी प्रसार लोकतांत्रिक आन्दोलनों के विकास से जुड़ा है। सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी का चहुँमुखी विकास हुआ और हिन्दीतर क्षेत्रों में भारी समर्थन भी मिला। हिन्दी भाषा की उपस्थिति अब प्रभावी मानी जा रही है। इस बड़े फलक पर बहुमुखी चुनौतियों और प्रतियोगिताओं के बीच से उभर कर सामने आयी है। इसमें अब भारतीय मूल के अनगिनत प्रवासी अपनी उपस्थिति को सार्थक सिद्ध करते हुए हिन्दी भाषा को सृजन और अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहे हैं।

बेशक यह एक ऐसा दौर है, जब हिन्दी बढ़ रही है, वह बाजार की जरूरतों के हिसाब से अभिव्यक्ति के अंदाज बदल रही है। बाजारवाद के सहारे हिन्दी भाषा देश-देशान्तर में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। अब सारा कारोबार इण्टरनेट के जरिए होता है और आज इण्टरनेट के दरवाजे देवनागरी लिपि के लिए खुल गये हैं।

भाषा के सही उपयोग के लिहाज से दूसरी तरफ देखे तो प्रिन्ट मीडिया देवनागरी लिपि के ध्वनिचिन्हों के विकास की कहानी बतलाती है, कि उसने अपने को समय के साथ गतिशील रखा है और अभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन की संरचनाएं देती आई हैं। इसलिए हिन्दी लेखन-वाचन की बची खुची विसंगतियों और नये ध्वनिचिन्हों के समावेश की अपेक्षाओं को पूरा करने में वह समर्थ है।

हिन्दी की एक प्राकृतिक शक्ति है— उसकी लिपि—देवनागरी। बिलगेट्स के अनुसार— 'बोलकर लिखने की प्रविधि जब संसार में चलेगी, तो केवल देवनागरी ही ऐसी लिपि होगी, जिसमें सही भाषा लिखी जा सकेगी।'⁶

संसार में देवनागरी लिपि के समान वैज्ञानिक लिपि कोई दूसरी नहीं है। सॉफ्टवेयर की सभी सुविधाएं हिन्दी में पहले से उपलब्ध थी। यह विविध स्रोतों से ऊर्जा लेती हुई समृद्ध हो रही है, तो भी मीडिया के रेशमी अंधेरे से भ्रमित होने की जगह पॉव तले की सख्त खुरदरी जमीन और उस पर उगी हरयाली को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हिन्दी के नए भूगोल, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र पर काम करते हुए भी भाषा के मानवीकरण पर ध्यान देने का समय आ गया है।

यहाँ पहुँचकर लिपि का सवाल अहम हो जाता है। अगर हिन्दी को सिर्फ संवाद और बाजार की भाषा बनकर नहीं रहना है और ज्ञान, विज्ञान, तकनीक या महामार्ग की भाषा के रूप में स्वीकार्य होना है तो उसकी काया को स्वस्थ और प्रदूषण मुक्त रखने की जरूरत की अनदेखी नहीं हो सकती और यह मंजिल सिर्फ शब्द सम्पदा के विस्तार से नहीं मिल सकती, वाक्य रचना या सूक्तियों की लचीली लय से भी वह हासिल नहीं होगी। उसके लिए देवनागरी लिपि का अपेक्षित परिष्कार, कंप्यूटर की—बोर्ड का मानवीकरण और वर्तनी की समरूपता अनिवार्य पहलू बन गये हैं। देवनागरी के की—बोर्ड के मानवीकरण के बिना

इंटरनेट पर सहज गति से नहीं चल पायेगी, न तो ई-मेल के लिए उसका भरपूर इस्तेमाल हो पायेगा और न ही कंप्यूटर से जुड़े दूसरे सारे लाभ हम ले पायेंगे। बेशक आज की अपेक्षा है कि देवनागरी लिपि के परिष्कार के लिए एक अधिकार सम्पन्न आयोग गठित किया जाए, जिसके तहत हिन्दी भाषा में बहुविध सर्जना से जुड़े प्रतिनिधियों की ओर से देवनागरी लिपि के मानवीकरण की सर्वसम्मत पहल हो। जहाँ तक हिन्दी रोमन लिपि के प्रयोग का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति या संगठन निजी स्तर पर अपनी सुविधा के लिए ऐसा करना चाहते हैं, उन्हें वक्ती आजादी मिले। लेकिन इस अतिक्रमण के अपने खतरे हैं, जो उन्हें उठाने होंगे।

हिन्दी का समस्त साहित्य एवं ज्ञान भण्डार कंप्यूटर पर आ जाना चाहिए। जो लिखा जा रहा है, या जो लिखा जा चुका है तथा योजनाबद्ध ढंग से इसका कार्यान्वयन होना चाहिए। हिन्दी का भविष्य सम्भावनाओं से भरा है। सरकारी उदासीनता इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। हिन्दी बिना किसी ढोल-नगाड़े के सफलताओं से भरे सत्पथ पर अग्रसर है।

आज के वैश्विक दौर में हिन्दी तल से उठकर आकाश की उन ऊंचाइयों तक जा पहुँची है, जिसका हम सभी भारतीयों को इंतजार था। आज हिन्दी ने गाँव की कच्ची गलियों से निकलकर शहर की लंबी व चौड़ी सड़कों को पार कर हवाई पट्टी पर तेज रफतार से दौड़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पकड़ मजबूत की है तथा हिन्दी को वैश्विक रूप प्रदान किया है। हिन्दी आज की भाषा है। भारतवर्ष की भाषा है आवश्यकता है उसे इक्कीसवीं सदी की भाषा बनाने की ओर संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख भाषाओं में प्रमुख स्थान दिलाने की इसके लिए हम सभी को मिलकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सक्रिय एवं सृजनात्मक सहयोग देना होगा तभी हम हिन्दी भाषा को ग्राह्य और लोकप्रिय बना सकते हैं।

श्वक्त की संवेदना का सार है	—	हिन्दी
चन्द शब्दों में संजोये सैकड़ों ज्वालामुखी है	—	हिन्दी
सत्यं, शिवं, सौन्दर्य की व्याख्यिका है	—	हिन्दी
मूल भावों की मुखर संवाहिका है	—	हिन्दी
अब सड़क से संसद तक है	—	हिन्दी

सन्दर्भ सूची

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — भारत दुर्दशा
2. वीरेन्द्र मिश्र — काव्य संकलन
3. जवाहर सिंह — हिन्दी का भूमण्डलीकरण-39
4. विमलेश कान्त वमा — फिजी में हिन्दी स्वरूप और विकास पृ0स0 -1-2,2000
5. कृष्ण कुमार यादव — भूमण्डलीकरण के दौर में हिन्दी, साहित्य कुंज-2009
6. डा. जवाहर कनोवट — अमेरिका में भी हिन्दी का महत्व, लेख, वेब दुनिया — हिन्दी

लोक और आधुनिक कला का सन्धि सेतु यामिनी रॉय

डा. ममता सिंह*

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय कला में नवीन प्रवृत्तियों का उद्भव दिखायी देता है—जहाँ अवंनीन्द्रनाथ तथा नन्दलाल बसु परम्परागत कला के समर्थक माने गये वही यामिनी रॉय एक आधुनिक चित्रकार के रूप में प्रतिक्रियावादी बनकर कला जागरण के क्षेत्र में अवतरित हुये। यामिनी रॉय ने लोक कला के आधार पर भारतीय कला को नवीन ऊर्जा



प्रदान करने की नूतन चेष्टा की⁽¹⁾ लोक साहित्य, लोक कला, सरल भक्ति सम्प्रदाय, कृषकों तथा नाविकों के घरों की कला, कथा, गीत, कबीर दादू एवं अन्य लोक प्रिय रहस्यवादी सन्तों की वाणी ने कलाकारों को सरल व सुलभ आकृतियों के निर्माण की चेतना को प्रोत्साहित किया।⁽²⁾ यामिनी रॉय अपने जीवनकाल में ही एक आख्यान बन गये थे लेकिन उससे पहले कठोर संघर्ष से उन्हें गुजरना पड़ा था उनकी शिक्षा में अनेक बाधाएँ आईं।⁽³⁾ कभी किसी मुद्रक के यहां तो कभी किसी वस्त्र व्यवसायी के यहां सहायक के रूप में नौकरी की लेकिन गर्दिश के दिनों में भी कला साधना में लगे रहे।

एक तरफ जब देश के बड़े-बड़े कलाकार पश्चिम की कला या फिर राजपूत या मुगल काल की कला परम्परा से प्रेरणा ले रहे थे, तब पश्चिम बंगाल के यामिनी राय लोक कला की ओर मुड़े और साबित किया कि मुगल या राजपूत परंपरा के बाद भारत की कला ठहर नहीं गई है। वह 1903 में लगभग 6 साल की उम्र में तब के कलकत्ता कला स्कूल में भर्ती हुए था। उनका जन्म बांकुड़ा जिले के बेलियाटोर गांव में हुआ था। कोलकाता के शुरुआती दिनों में वह चित्रकार अवंनीन्द्र नाथ की कला से शुरुआती दिनों में वह चित्रकार अवंनीन्द्र नाथ की कला से गहरे प्रभावित रहे, लेकिन कुछ समय के बाद की शहर की मशीनी जीवन शैली से कब गए और गांवों की ओर लौटे, जहां बचपन बीता था। रॉय ने स्वरूपों की सहजता को अपनाया, सशक्त एवं सपाट रंगों एवं माध्यमों को चुना। स्थानीय लोक-कलाओं के विषय वस्तु का अपनी कला में समावेश किया। उन्होंने कीमती कैनवास एवं ऑयल पेंट्स को छोड़कर सस्ती सामग्रीयों का इस्तेमाल शुरु किया, जो उन दिनों लोक कला के लोग किया करते थे। रामायण एवं कृष्ण लीला के दृश्यों को अपनी कला में उतारा। गांव के आम स्त्री-पुरुष का चित्रण किया। पट चित्रकला के लोकप्रिय नमूनों को लोगों के बीच पेश

* एसो. प्रोफेसर चित्रकला विभाग, एम.के.पी. (पी.जी.) देहरादून

किया। समकालीन आलोचक, जो कला अलोचना का औजार पश्चिम से उधार लेकर आए थे, उनकी खुलकर आलोचना करने लगे। कई ने तो उन्हें कलाकार मानने से इंकार कर दिया। फिर भी वह अपनी सतरंगी दुनिया तक सीमित रहे। भारतीय लाल, पीला, हरा, सिंदूरी, भूरा, नीला और सफेद रंगों को अपनी कला में जगह दी। इनमें अधिकांश जमीनी या प्राकृतिक रंग थे। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जब कोलकाता सिपाहियों की छावनी बना तो उनके चित्रों की बिक्री काफी बढ़ गई लेकिन इसी दौर में उनके एक फैसले ने उन्हें विवादों के मुहाने पर खड़ा कर दिया। उन्होंने एक स्टूडियो तैयार किया। जिसमें कई छात्रों को रखा। वे छात्र यामिनी रॉय के चित्रों की अनुकृतियां बाजार के लिए तैयार करने लगे। लेकिन शायद सिर्फ शैली और रंग किसी कला को कलाकृति नहीं बना पाते उसके पीछे कलाकार की संवेदना और निष्ठा भी होती है। इस फैसले ने उनकी कला दुनिया को बहुत नुकसान पहुंचाया।

फिर भी उन्होंने भारतीय कला को पश्चिम, अजन्ता, मुगल या राजपूत कला परम्परा से अलग लोककला की उस धारा की ओर मोड़ा, जो बहुत सहज थी और जिंदगी के करीब भी। प्रसिद्ध और लोकप्रिय होने के बाद भी वे अपने चित्रों को आश्चर्यजनक रूप से सस्ते दामों पर गांव के बाजार में बेचते थे। कलाकार की शानोशौकत से दूर वे अपने को जीवन पर्यन्त एक कला शिल्पी ही मानते रहे, इस बात पर चिंता किए बगैर की वह समकालीन कला दुनिया, के परिदृश्य पर कहा खड़े है, उनसे क्या चुक हुई और उनका क्या महत्व है? उन्होंने कभी आलोचनाओं का पलट कर जवाब नहीं दिया। बस काम में लगे रहे। एक आदमी की तरह। एक ऐसा आदमी, जिसे आज देखकर सहसा कवि विनोद कुमार शुक्ल की पंक्तियां याद आ जाएं, “मैं हमेशा जाता हुआ दिखाई देता हूँ, मैं अपनी पीठ अच्छी तरह पाहचानता हूँ।”⁽⁴⁾

यामिनी रॉय ने अपने चित्रों में विशेष रूपाकारों, रंगों तथा पैटर्नों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। जहाँ उनकी आकृतियों अलंकरण से रहित हो जाती है तथा जिसमें वस्तु शिल्पी के चित्र बल्लरी के गुण पैदा हो जाते हैं। “अमृता” – इसी कारण इस निर्णय पर पहुँची, कि यामिनी, कृष्ण तथा अन्य आकृतियाँ दोईहाट या किशनपुर कीप की मिट्टी की टाईलों की गोलाकार आकृतियों से बहुत मिलती-जुलती हैं। इसके अलावा यामिनी राय ने अपने चित्रों में साहित्यिक विषय वस्तु को भी त्यागने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध कला समीक्षक शाहिद सुहरावर्दी ने ही जो की कलकत्ता विश्वविद्यालय में ललित कला के प्रोफेसर थे, सर्वप्रथम यामिनी रॉय को एक महत्वपूर्ण छविकार का दर्जा दिया और उनकी रचनाओं के “कलातीती” गुण की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। भारतीय समकालीन कला पर यामिनी रॉय की कला-शैली का गहरा प्रभाव पड़ा। उनके चित्रों में सपाट रंग भरकर, रेखाओं द्वारा उनके भावों तथा अन्य भागों को दर्शाया है। आँखें इतनी बड़ी बनायी हैं कि कानों तक दिखाई देती हैं।⁽⁵⁾

भारतीय आधुनिक चित्रकला के दिग्गज चित्रकारों में यामिनी राय का नाम प्रथम पंक्ति में लिखा जाता है। उन्होंने भारतीय आधुनिक चित्रकला को नये-नये आयाम प्रदान किये हैं। कुछ नया करने की प्रबल इच्छा ने बंगाल की लोक कलाओं तथा कलकत्ता की पटुओं की कलाओं की ओर आकर्षित किया। इन्हें अपने चित्रों में प्रविष्टी देकर नये-नये प्रयोग किये। उनका ध्येय यह था कि उनके चित्र भारत के प्रत्येक घर में अधिकाधिक मात्रा में पहुँच सकें।

इन्होंने कालीघाट के पट चित्रों की पुष्ट लहरियादार रेखायें तथा वर्तुलाकार रेखाओं के लिए अपनी शैली में समावेश किया। चित्रों के सरलीकरण के प्रयास में यामिनी रॉय ने कुछ विशेष रूपाकारों, रंगों तथा तकनीकी को सुरक्षित किया। यह रेखायें अत्यन्त ही सरल और लयात्मक हैं तथा अपने भावों को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। यामिनी रॉय ने अपने पूर्ण कला जीवन में अनेक विभिन्न प्रयोग किये।⁽⁶⁾

कवि इलियट याद आते हैं— “हम क्या है, यह हम तभी जान सकते हैं जब हम यह जान लें कि हमें क्या होना चाहिए, लेकिन हमें क्या होना चाहिए यह तभी जाना जा सकता है जब हमें पता चल जाए कि हम क्या है।” अपने समय के मशहूर चित्रकार यामिनी रॉय, जो लंबे समय तक आलोचनाएं झेलते रहे, ने भी न जाने कितनी बार खुद को ऐसे सवालों के सामने खड़ा पाया होगा। उनके न रहने के लगभग 41 साल बाद भी सवाल वहीं खड़े हैं। उन्हें क्या होना चाहिए था? आखिर वह क्या हो पाए? यामिनी रॉय की सम्पूर्ण कला में यह प्रश्न तीर की तरह बंधा है, जिसका जख्म अपने भीतर दबाए वह जिंदगी भी चलते रहे, लेकिन एक नई दिशा में। शायद यह एक बड़ा कारण है कि उनके बनाए चित्र कला के तमाम मानकों को भेदते हुए एक नई दुनिया में हमें लेकर जाते हैं, जहां मशहूर चित्रकार मातीस के रंगों जैसा कोई बिखराव नहीं दिखता, बल्कि एक ऐसे शख्स की कूची का कमाल दिखता है, जो हर जीवित तत्व में सौंदर्य और चमत्कार खोज लेता है।⁽⁷⁾ वास्तव में यामिनी रॉय भारतीय आधुनिक कला में लोक और आधुनिक तत्वों के संधि सेतु के रूप में ख्याति रखते हैं। जिन्होंने अपनी कला में भारतीय लोक संस्कृति के मुख्य गुणों को प्रयोग करते हुए आधुनिक कला के रूप में अपनी महान कृतियाँ सृजित की। इसीलिए वे हमेशा समकालीन कला में अग्रणी रहेंगे।

संदर्भ:

1. वर्मा, डॉ. अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास। पृष्ठ सं० 277
2. वर्मा, डॉ. अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास। पृष्ठ सं० 277
3. सक्सैना, प्रो० एस० बी० एल०, भारतीय चित्रकला परम्परा एवं आधुनिकता का अर्न्तद्वन्द। पृष्ठ सं० 166
4. चौधरी— दे० प्र०—अमर उजाला 21 जुलाई 2013
5. सक्सैना, प्रो० एस० बी० एल०, भारतीय चित्रकला परम्परा एवं आधुनिकता का अर्न्तद्वन्द। पृष्ठ सं० 169
6. सक्सैना, प्रो० एस० बी० एल०, भारतीय चित्रकला परम्परा एवं आधुनिकता का अर्न्तद्वन्द। पृष्ठ सं० 171
7. चौधरी—दे० प्र०—अमर उजाला 21 जुलाई 2013

भारतीय चित्रकला का दर्शन

डॉ. हरी ओम शंकर*

कला कल्याण की जननी है। चित्रकला वस्तुतः जीवन की अभिव्यक्ति है। वेद, वेदांग, काव्य, कोष आदि सभी में किसी न किसी रूप में चित्रकला अन्तर्निहित है। इस धरती पर मनुष्य के क्रमिक विकास को कला के द्वारा ही प्रकट किया गया। शिवात्मा का सर्जना शक्ति में होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में उसी का आधार है। वह अनन्त रूप में है उसके इस अनन्त रूपों की निष्पत्ति ही कलाकार है।

कला की आज जो परिभाषा की जा रही है वह पहले की अपेक्षा भिन्न है। प्राचीन ग्रंथों में शिल्प और कला को हस्तकौशल, चत्रत्कार प्रदर्शन से ऊंचा स्थान नहीं दिया गया, अवश्य ही उसको साहित्य से अलग करके देखा जाता रहा है।

कला को 'कौशल' कहने की सस्ती मनोवृत्ति का प्रचलन तब हुआ, जब उसका एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन माना जाने लगा। इसलिए चकोर, तीतर, बटेर लड़ाने और गल्लयुद्ध तक को कला के अंतर्गत माने जाने लगा। इस प्रकार के सभी कौशल का सम्बन्ध मनोरंजन से था।

इसी प्रकार, बौद्ध चित्रकला की ही भांति जैन चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। ताड़पत्रों, वस्त्रों और कागज पर बनाये चित्र अत्यन्त जीवांत, रोचक और कला पूर्ण होते थे। 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य कक्षा' के आधार पर बने तीर्थकारों के चित्रों का वर्णन मिलता है। इन कलाकारों ने धार्मिक कट्टरता का परित्याग करके उदारता से काम लिया। इन्होंने 'मार्कण्डेय पुराण', 'दुर्गासप्तशती', 'रतिरहस्य' और 'कामसूत्र' से सम्बन्धित चित्रों का भी अंकन किया। बाद की शैलियों पर इस आलेखन परम्परा का पूरा प्रमाण पड़ा।

चित्रकला के साथ-साथ भित्ति-चित्रों का भी विकास हुआ। प्राचीन भारतीय साहित्य में चित्रकला से सम्बन्धित बहुत अधिक सामग्री प्राप्त होती है वैदिक युग से लेकर सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जो ग्रंथ प्राप्त हुये हैं उसमें यत्र-तत्र चित्रकला की ही चर्चा है।

कला में रूप के सिद्धान्त से केवल रूप ही नहीं, समस्त जीवन का आधार विकसित होता है। केवल सुन्दर दिखना ही कला नहीं है उसी प्रकार जैसे- केवल धार्मिक, नैतिक अथवा बुद्धिमान, कला नहीं है। किन्तु कला के रूप इन समस्त मान्यताओं को आधार प्रदान करने हैं। अतः कला के रूप तथा अभिव्यक्ति में आन्तरिक एवं अनिवार्य सम्बन्ध है। ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें अनुभूति का उच्च रूप निहित है, वह संस्कृति करने वाली कला कभी महान नहीं कहलाती। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कला धर्म का उपदेश कर सकती है। कला केवल धर्म की सेवा में सहायता कर सकती है। कला कभी भी बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, हिन्दू अथवा जैन आदि नहीं हो सकती। वह केवल अपनी आकृति-रचना के द्वारा इनके विषयों को अभिव्यक्त कर सकती है। आकृतियां अवश्य धार्मिक हो सकती हैं।

* सहायक प्राध्यापक चित्रकला विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कालेज, देहरादून

अतः मैं निष्कर्षना : कहूंगा कि केवल वस्तुतत्त्व होने मात्र से वस्तु सुन्दर नहीं होती।
सौन्दर्य – दृष्टि के बिना कला का निर्माण नहीं हो सकता यह एक सत्य है।

संदर्भ :-

1. सम्मेलन पत्रिका (कला अंक) – राम प्रताप त्रिपाठी
2. कला और कला तथा अन्य निबन्ध – प्रसाद
3. साहित्य का श्रेय और प्रेय – जेनेन्द्र कुमार
4. ऐसथेटिक प्रिंसिपिल्स ऑफ इण्डियन आर्ट – डॉ. पी.के. अग्रवाल
5. सौन्दर्य-तत्त्व और काका सिद्धान्त – डॉ. सुरेन्द्र वार्लिंगे
6. दी मीनिंग ऑफ आर्ट – हटबर्ट रीड
7. भारत भी चित्रकला – राम कृष्ण दास
8. दी आर्ट ऑफ इण्डिया – स्टेला क्रैमरिश

भारतीय स्टेट बैंक की ऋण निक्षेप स्थिति का विश्लेषण

डॉ. कुमार विमल लखटकिया*

भारतीय स्टेट बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की ही भांति सावधि, चालू एवं बचत खातों के विभिन्न स्वरूपों के माध्यम से कोष प्राप्त करती है और इन प्राप्त कोषों पर देय ब्याज, प्रशासनिक व्यय एवं लाभार्जन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए जनता को ऋण प्रदान भी करती है। जनता को दिये गये, ऋणों पर प्राप्त ब्याज तथा अन्य सेवाओं के बदले प्राप्त धन ही बैंक की आय का प्रमुख स्रोत है।¹ अतः बैंक की सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता ऋण प्रदान करने में ही निहित है तथापि ऋण प्रदान करने का कार्य परम्परागत और रूढ़िवादी ढंग से ही सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

भारत के बैंक व्यवसाय में सन् 1950 के बाद, विशेष रूप से इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का रूप देने के बाद, महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। बैंक व्यवसाय में पुरानी मान्यताएं, दृष्टिकोण तथा रीतियां बदल चुकी हैं और अब उनका स्थान अर्थक्षमता, आवश्यकता पर आधारित वित्तपोषण एवं विपणन की नयी तकनीकों ने ले लिया है।² अब बैंक तुरन्त लाभ देने वाले उद्यमों में हाथ डालने के स्थान पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करते हैं और उनसे यह अपेक्षा की जाने लगी है कि वे राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्रम में तथा सामाजिक आर्थिक परिवर्तन लाने में हाथ बटावेंगे।

सामाजिक संगठन होने के नाते बैंकों को अब जनता की सहायता के लिए अग्रसर होना होता है और कमजोर वर्गों को अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने में सहायता देनी होती है। अतः अब बैंक देश के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और जहां भी संसाधन उपलब्ध हो उन्हें जुटा कर उत्पादन-प्रयोजन के लिए सुलभ करते हैं। लघु उद्योगों तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए अब नयी कार्य-नीतियां निर्धारित करना आवश्यक हो गया है। अब व्यापारिक बैंक अपनी गतिविधियों अल्पावधि के लिए ऋण वितरण करने के परम्परागत कार्य तक ही सीमित नहीं रख सकते, वरन् उन्हें विकास कार्यों के लिए वित्त-व्यवस्था तथा दीर्घावधि के लिए ऋण प्रदान करने की जिम्मेदारी भी अपने कंधों पर लेना आवश्यक हो गया है।³ इसी प्रकार ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों में बैंकों की शाखायें खोलने का और ग्राहकों को कार्यकुशलता के साथ बैंकिंग सुविधायें देने का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

इन सबका अर्थ यह नहीं है कि अब बैंकों को ऋण की सुरक्षा तथा लाभदायकता जैसे मूलभूत सिद्धान्तों का जिन पर बैंक व्यवसाय आधारित है, परित्याग करना है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप एक नया मानस विकसित किया जाये। ऋण राशि की सुरक्षा से संबंधित पुरानी मान्यताओं में संशोधन किया जाना चाहिए और उधारकर्ता की योग्यता तथा क्षमता को और वह जिस उद्यम के लिए ऋण लेना चाहता है उसकी सार्थकता को, ऋण की कसौटी के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।⁴

* असि. प्रोफेसर वाणिज्य विभाग, राजकीय महाविद्यालय बाजपुर, (उद्यमसिंह नगर) उत्तराखण्ड

अब यह आवश्यक हो गया है कि लाभदायकता का निर्णय करते समय अविलम्ब लाभ कामाने का संकुचित दृष्टिकोण न अपनाया जाये, वरन यह देखा जाये कि बदलते हुए सामाजिक ढांचे को ध्यान में रखते हुए उधम को लाभकारी ढंग से चलाया जा सकेगा या नहीं।

बैंकिंग कम्पनी का मुख्य व्यवसाय व्यापारियों तथा व्यापारिक और औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देना होता है। बैंक निधियों का अधिकांश भाग ऋण और अग्रिम के रूप में नियोजित किया जाता है। किसी बैंक की आय का अधिकांश भाग इस प्रकार उधार दी गयी निधियों पर ब्याज और बट्टे के रूप में ही प्राप्त होता है तथापि ऋण प्रदान करने के व्यवसाय में कुछ जोखिम भी निहित होती है। बैंकर अधिकतर उधार लिये गये धन अर्थात् अपनी जमा राशियों पर ही निर्भर रहता है। अतः इस धन को उधार देते समय वह अत्याधिक जोखिम नहीं ले सकता है। जोखिम को न्यूनतम रखने के उद्देश्य से बैंकर ऋण प्रदान करने के सिद्धान्तों का पालन करता है। जैसे— सुरक्षा, अर्थ— सुलभता, लाभदायक, ऋण का उद्देश्य जोखिम आदि।

भारत में प्रमुख व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीकरण करने का उद्देश्य बैंकिंग व्यवसाय में दूरगामी प्रभाव वाले सुधार लाना था। जुलाई 1969 के बाद से राष्ट्रीकरण के परिणाम स्वरूप भारतीय बैंकिंग में नयी दिशाये खुली है तथा उसका आधार विस्तृत और गहरा हुआ है। जब से सरकार ने बैंकों को अपने हाथ में लिया है, सबसे महत्वपूर्ण सुधार ऋण देने की नीतियों तथा व्यवहारों में हुआ है। ऋण देने की रीतियों तथा व्यवहारों को इस तरह ढाला गया है, ताकि अर्थव्यवस्था के अब तक उपेक्षित रहे क्षेत्रों की आवश्यकताएं पूरी हो सके। सामाजिक नियंत्रण के प्रयोग को करने से पहले, बैंकों ने कृषि तथा लघु उद्योगों को ऋण सुविधाएं प्रदान करने की तरफ थोड़ा सा भी ध्यान नहीं दिया था। स्वनियोजित वर्ग की विशाल जनसंख्या में आने वाले छोटे-छोटे उधारकर्ताओं को बैंकिंग प्रणाली से बिल्कुल भी सुविधाएं नहीं मिली हुई थी। लेकिन बैंक राष्ट्रीकरण के बाद कृषि, छोटे उद्योग तथा स्वनियोजित व्यक्तियों के लिए बैंकों द्वारा वित्त — व्यवस्था में काफी गति आई और इस हेतु कई विशेष ऋण योजनाएं आरम्भ की गयी। भारतीय बैंकों के समूचे दृष्टिकोण में ही परिवर्तन आ गया और अब परम्परागत भारतीय बैंकिंग व्यवसाय एक रचनात्मक रूप लेता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के प्राथमिकता प्राप्त तथा उपेक्षित में क्षेत्रों के संबंध में बैंकों द्वारा ऋण देने के व्यवहारों में अनेक परिवर्तन हुए। इस प्रयोजन के लिए भारत में संस्थागत गारंटी की व्यवस्थित प्रणाली विकसित की गयी है।

केन्द्र सरकार तथा रिजर्व बैंक के कहने-सुनने, निर्देश देने तथा मार्ग दर्शन करने के परिणामस्वरूप भारतीय बैंक, समुदाय ने प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों में ऋण सुविधा देने के मामले में नयी अवधारण, तकनीक एवं कसौटियां अपनायी है। बैंक राष्ट्रीकरण के पश्चात प्राथमिकता प्राप्त तथा उपेक्षित क्षेत्रों के प्रति बैंकों का दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया है। अब बैंकर पिछड़े क्षेत्रों की मदद करने के लिए अपने आपको वचनबद्ध अनुभव करते हैं।

भारतीय स्टेट बैंक भारत की सबसे बड़ी बैंकिंग संस्था है, जो ग्रामीण, अर्थ—ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बैंकिंग क्रियाओं का निष्पादन करती हैं भारतीय स्टेट बैंक, एक और तो रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में सम्पूर्ण राष्ट्र में राज्य कोषीय प्रबन्ध के अंग के रूप में कार्य

करती है, दूसरी ओर स्वतंत्र व्यापारिक सेवाओं द्वारा भारतीय जनता के समक्ष बैंकिंग क्रियाओं का एक आदर्श प्रस्तुत करती है। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के अनेक आर्थिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों में भारतीय स्टेट बैंक की अति महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह कहना असंगत न होगा कि जमा स्वीकार करने और ऋण प्रदान करने में भारतीय स्टेट बैंक का योगदान अन्यतम है।⁵ कृषि उद्योग और सेवा क्षेत्र में खास उपलब्धि के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में भारतीय स्टेट बैंक अर्थ-व्यवस्था की दुर्बलता को दूर कर, उसे सुदृढ़ता प्रदान करने में निरन्तर प्रयासरत है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा एवं शर्मा, बैंकिंग विधि एवं व्यवहार प्र. 79
2. डॉ. राजेश शर्मा, Management of funds in Public sector bank in India प्र.132
3. डॉ. सतीश कुमार सहा, भारतीय बैंकिंग प्रणाली प. 52
4. प्रो. ओक्षा एवं ओझा, मुद्रा बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पृ. 93
5. भारतीय स्टेट बैंक वार्षिक रिपोर्ट, विभिन्न अंक

असहयोग आन्दोलन में म.प्र. की महिलाओं का योगदान

डा. के. रतनम्* एवं कीर्ति दुबे**

पराधीनता प्रत्येक व्यक्ति व राष्ट्र के लिये सबसे बड़ा अभिशाप है। भारतवासियों के लिये भी पराधीनता के उस दुःखस्वप्न से वाहर निकलना एक कठोर तपस्या से कम नहीं था। तुलसीदास जी ने कहा भी कि पराधीन सपनेहुं सुख नहीं अर्थात् पराधीन व्यक्ति को सपने में भी सुख नहीं मिलता है। पराधीनता विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोधक है। यह तो एक गहन रात्रि के समान है जिसमें सुबह नहीं होती।

1915 में द. अफ्रीका से वापस आकर महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीतिक पटल पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। स्वाधीनता के इस संघर्ष को तीव्रता प्रदान करने हेतु उन्होंने माना कि जन सामान्य को संघर्ष से जोड़ा जाना एक अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि एक राष्ट्रीय स्तर का आन्दोलन छोड़े जाने हेतु समाज के हर वर्ग का सूत्रबद्ध होना नितांत आवश्यक है।

स्त्री व पुरुष समाज के दो महत्वपूर्ण आधार स्तंभ हैं। स्वतंत्रता के इस संघर्ष में पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी कंधे से कंधा मिलाकर बराबरी से संघर्ष किया। स्वतंत्रता के आन्दोलन में प्रारंभ से ही महिलाओं ने अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करवाई। इस अर्जी को संगठित करने व दिशा देने का कार्य महात्मा गांधी ने 1920 के असहयोग आन्दोलन के द्वारा किया।

1914 में छिड़े प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जब गांधीजी द. अफ्रीका से लौटकर भारत आए तब उन्होंने भारतीय जन मानस को अंग्रेजों की सहायता के लिए तैयार किया। युद्ध में सक्रिय सहयोगके बावजूद भारत की जनता को सार्थक रूप से कुछ भी हासिल नहीं हुआ।

गांधी जी ने जिस आशा से अंग्रेजों का सहयोग किया था वह सब कुछ एक वर्ष में घटित होने वाले कार्यों ने मिटाकर रख दिया। ऐसे में गांधीजी ने असहयोग का सूत्रपात किया। असहयोग के माध्यम से गांधी जी ने एक निश्चित कार्यक्रम द्वारा भारतीय जनता को बताया कि अब अंग्रेजों से प्रत्येक क्षेत्र में असहयोग किया जाये। इस अहिंसात्मक आन्दोलन को तब तक चलाया जाये जब तक कि खिलाफत संबंधी सभी अन्याय दूर न हो जाए और स्वराज्य प्राप्त न हो जाए।

गांधी जी ने असहयोग का सात सूत्रीय कार्यक्रम जन-2 में लोकप्रिय बनाया। इसमें सरकारी स्कूलों, कालेजों कचहरियों का बहिष्कार करना, सरकारी उपाधियों व मानद पदों को वापस करना, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना भी शामिल था। रचनात्मक कार्यक्रमों में पंचायतों की स्थापना करना, गांवों में कांग्रेस कमेटियों की स्थापना करना, राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों की स्थापना, चरखा एवं स्वदेशी वस्त्रों का प्रचार, कताई बुनाई, शराबवंदीको प्रोत्साहन आदि शामिल था।

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर,

असहयोग में मध्य प्रदेश की महिलाओं ने भी बड़ चढकर सक्रिय रूप से हिस्सा लिया। जुलूस निकाले, धरने दिये, गिरफ्तारियां दी। उन्हीं में से कुछ महिलाओं का विवरण निम्नानुसार है :—

श्रीमती भागीरथी बाई रायपुर के जोराबारा ग्राम की निवासी थी उनके पति का नाम श्री महावीर प्रसाद तिवारी था। भागीरथी बाई ने कई—2 दिन बिना भोजन—पानी के रहते हुऐ भूमिगत रहकर आंदोलन करने वाले सैनानियों की भरपूर मदद की।¹

इसी प्रकार रूकमणि बाई ने तन—मन धन प्रत्येक प्रकार से असहयोग आंदोलन में भाग लिया। रूकमणि बाई रायपुर के कसहीवहरा ग्राम की निवासी थी। इनके पति का नाम भी महाराज जी था। रूकमणि बाई ने जन सामान्य को जागरूक करने के साथ शराब की दुकानों पर धरने भी दिये। उन्होने अपनी गिरफ्तारीयाँ भी थी। जिसके कारण उन्हें एक वर्षीय कारावास की सजा दी गई।²

मध्य प्रांत में भाषण देते हुए ही गांधी जी ने कहा था कि देश की उन्नति तभी संभव है जब देश की नारी जाग्रत होगी।³

छिंदवाड़ा में जब गांधी ने भाषण दिया तो गांधी जी के भाषण को सुनने के लिये महिलाओं ने कोसों पैदल यात्रा की इस सभा में महिलाओं ने बडी संख्या में धन व आभूषण दान में दिये।

मध्य प्रदेश के सिवनी जिले में अनेक नेताओं यथा मदन मोहन मालवीय, श्रीमती सरोजिनी नायडू ने भाषण दिये। इन नेताओं के भाषणों से प्रभावित होकर जनता ने विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार किया व विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई महिलाओं ने कालेझंडे लेकर प्रदर्शन किया।⁴

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी महिलाओं ने असहयोगी आंदोलनकारियों में अपनी कविताओं के माध्यम से नया जोश भरा। खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी। लिखकर उन्होने महिलाओं में एक नई चेतना का विकास किया। सुभद्रा जी का विवाह ठा. लक्ष्मण सिंह जी के साथ हुआ था। जो स्वयं राष्ट्रभक्त थे। सुभद्रा जी को साहित्य से लेकर स्वतंत्रता तक के सफर में आपने सदैव ही उन्हें प्रोत्साहित कर अपना अमूल्य योगदान दिया।⁵

1994 में सतना के सरगुजा जिले में जन्म लेने वाली गुजरिया बाई का योगदान भी यहां उल्लेखनीय है। इनके पिता का नाम श्री बाबादीन उमराव था गुजरिया बाई ने असहयोग आंदोलन के सप्तसूत्रीय कार्यक्रम में सक्रिय भाग लिया। दुकानों पर धरने दिये, विदेशी वस्त्रों की होलियां जलाई गई और इस प्रकार वे असहयोग आंदोलन की मुख्य कार्यकर्ता बनी।

श्रीमती तुलसीबाई का जन्म 1890 में कटनी स्थित गांधीगंज में हुआ। इनके पति का नाम श्री रामकृष्ण दुबे था। दुकानों पर धरने देकर, पुलिस की लाठियां खाकर तुलसीबाई ने असहयोग में अपनी सक्रियता दर्ज की।

असहयोग में हिन्दुओं के साथ—2 मुस्लिम महिलाओं ने भी पूरे जोश के साथ भाग लिया। अम्मान बाई ने ऐसे समय में महिलाओं को जाग्रत करने का कार्य किया जबकि महिलाओं को पर्दे से निकलने की भी इजाजत नहीं थी। उन्होंने बड़ी ही होशियारी से अंग्रेजों की नाक के नीचे रहते हुये असहयोग का संदेश सेनानियों तक पहुंचाया।

सतना के बिनैका की श्रीमती तुलसी बाई, पत्नी श्री ब्रद्रीप्रसाद के प्रयास भी बेहद सराहनीय रहे। जुलूस, धरने आदि के साथ—2 स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों की गुप्त रूप से मदद करने के आरोप में एक माह की सख्त सजा दी गई थी।⁶

मैहर से शान्ति बाई पत्नी श्री सीताप्रसाद का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने असहयोग आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई।

श्रीमती बीरकुबर, पत्नी श्री लालददन सिंह निवासी सतना के बारे में उल्लेखनीय है कि वे लगातार आंदोलन में सक्रिय रहीं परन्तु इनकी सजा के बारे में तथ्य अपर्याप्त ही है।⁷

श्रीमती काशीदेवी का जन्म 1897 में हुआ। इसके पति का नाम श्री उदय लाल था। राष्ट्रीयता की भावना इनमें बचपन से ही कूट—2 कर भरी थी। 1921 में प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर काशीदेवी ने सभाओं व जूलूसों आदि में सक्रिय सहयोग किया। घर पर नजरबंद कर दिये जाने के बावजूद आपने 1948—49 में विभिन्न आन्दोलनों में भाग लिया।

सितम्बर 1920 में शुरू हुआ असहयोग आन्दोलन अपने पूर्ण यौवन पर था तभी ठीक ऐसे समय पर जब यह प्रतीत हो रहा था कि आन्दोलन किसी सफलता का आन्दोलन करने ही वाला है कि तभी गांधी जी ने उसे स्थगित कर दिया।⁸

भारतीयों की स्थिति युद्ध में पराजित एक सेना की सी हो गई। गांधी जी की प्रतिष्ठा को भी गहरा धक्का लगा।⁹

उच्च श्रेणी के नेताओं को छोड़कर जनता के साथ—2 स्थानीय राजनीतिज्ञों ने भी गांधीजी के असहयोग के स्थगन को देश का दुर्भाग्य बताया।

फरवरी 1922 ई. में यह आन्दोलन समाप्त हो गया। हालांकि तात्कालिक रूप में इसके परिणाम बहुत अधिक फलदायी नहीं रहे परन्तु दीर्घकालिक रूप में आन्दोलन के परिणाम बेहद महत्वपूर्ण थे। आन्दोलन के फलस्वरूप ही विभिन्न जाति व समुदाय स्त्री व पुरुष में राष्ट्रीय एकता की भावना का संचार हुआ।

आन्दोलन के फलस्वरूप ही राष्ट्रीय आन्दोलन जन आन्दोलन बन सका। समाज के विभिन्न वर्गों ने एकजुट होकर संघर्ष में भाग लिया जिससे जन एकता को बढ़ावा मिला महिलाओं ने मुखर होकर आन्दोलन में अपनी भागीदारी दर्ज करवाई। महिलाओं की सक्रिय भागीदारी आन्दोलन की सबसे बड़ी सफलता थी। आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन में परिवर्तन कर दिया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम का उत्पन्न हुआ, खादी का प्रसार व कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिला।

संदर्भ सूची

1. मध्य प्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम सैनिक भाषा संचालनालय पृ. सं. 55
2. वही पृ. सं. 75
3. मध्य प्रदेश और गांधी जी सूचना प्रकाशन पृ. सं. 13
4. मध्य प्रदेश के स्वतंत्रता संग्राम उपरोक्त पृ. सं. 221 सैनिक जबलपुर संभाग
5. वही सूचना प्रकाशन पृ. सं. 119
6. मध्यप्रदेश के स्वाधीनता सैनिक भाषा संचालनालय पृ. सं. 284 (खण्ड-5)
7. मध्य प्रदेश के स्वाधीनता संग्राम भाषा संचालनालय पृ. सं. 295
8. भारत का राष्ट्रीय आंदोलन, सवैधानिक डां. श्री ओम नागपाल पृ. सं. 86 विकास और संविधान
9. भारत का राष्ट्रीय आंदोलन, वही पृ. सं. 90 सवैधानिक विकास और संविधान

चन्देरी की लोककला का एक रूप “मांडना”

अश्विनी चौहान*

भारत में चित्रकला दो रूपों में आगे बढ़ी तथा समय के साथ काफी सशक्त होती गई। प्राचीन काल की अपेक्षा मध्यकाल में इस क्षेत्र की चित्रकला पर इसके पड़ोसी प्रदेश राजस्थान, गुजरात और जौनपुर की चित्रकला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।¹ इसका एक रूप शास्त्रीय था जिसका निर्माण या तो राज्याश्रित पेशेवर कलाकारों ने किया अथवा उन्होंने किया जो कि स्वतन्त्र रूप से कला की साधना में लीन थे।² इस चित्रकला के इतिहास को हम बाग, अजन्ता, जैन चित्रकला, मालवा तथा कालान्तर में राजपूत व मुगल शैलियों में देखते हैं। किन्तु चित्रकला का दूसरा रूप अपने इतिहास व ख्याति की परवाह न करते हुए हमारी पारिवारिक, सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं में एक रस होकर बगैर किसी बौद्धिक धरातल के हमारे ही आंगनों में पलता हुआ आगे बढ़ा। यह थी लोक चित्रकला जो भारत की कोटि-कोटि जनता के जीवन में एक प्राण होकर घुल-मिल गई।³ मध्ययुग में जब शास्त्रीय चित्रकला को राजकीय तथा उच्चवर्ग का प्रश्रय मिला तो उस समय लोक कला को आगे बढ़ाने का कार्य भारतीय महिलाओं व ग्रामीणों ने किया। इस तरह इन्होंने भारत की आत्मा कही जाने वाली लोककला को प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग की दासता से मुक्त रखा।⁴ इस लोक कला को यद्यपि विभिन्न प्रदेशों में अनेक नामों से पुकारा जाता है, किन्तु उसका मूलभाव व आत्मा एक ही है। महाराष्ट्र में इसको रांगोली, गुजरात में साथिया,⁵ मालवा व राजस्थान में मांडना, उत्तरप्रदेश में सोन रखना या चौक पूरना, गढ़वाल और अल्मोड़ा में आपना, बिहार में अपहन और बंगाल में अल्पना कहा जाता है।⁶

इसी क्रम में विंध्य पर्वतमालाओं के प्रांगण में बसा चन्देरी ऐसा सांस्कृतिक क्षेत्र है जहाँ लोककला के विविध स्वरूप प्रचुरता से देखने को मिलते हैं। इन लोक-कलाओं को चन्देरी के बुन्देला राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। उनके शासनकाल में यह फली-फूली और आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुए है। यह बुन्देला राज्य की अभूतपूर्व सांस्कृतिक उपलब्धियाँ हैं जो चन्देरी पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयी है।

चन्देरी क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली मांडना लोक चित्रकला की मुख्य पृष्ठभूमि दीवार तथा धरती है जिसमें गोबर या खड़िया से लीपकर आधार बनाया जाता है। इसके पश्चात् इसमें विभिन्न रंगों, गेरू, कोयले आदि का प्रयोग किया जाता है। मांडना में मुख्य रूप से लाल, भूरा व हरा रंग प्रयोग में लाया जाता है।⁷ चन्देरी की बुन्देली संस्कृति के मांडने सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, इनके माध्यम से अतिथि अथवा देव आवाहन कर उन्हें आसन देने की भावना प्रकट होती है। सभी मांगलिक कार्यों के अवसर पर विभिन्न पूजा-पाठ, हवन के अवसर पर विभिन्न पर्वों पर ये मांडने बनाये जाते हैं। इन मांडनों में महीन गेहूँ के आटे, पिसी हल्दी व हरे, गुलाबी, लाल गुलाल की सहायता से बनाया जाता है। मांडने बनाने की प्रक्रिया को चौक पूरना भी कहा जाता है। ये मंगल मांडने ज्यामितीय

* पीएच.डी. शोधार्थी

आकार के होते हैं। इनके अंकन में विशेष अनुपात रहता है तथा ये मांडने देखने में लयबद्ध तरीके का चित्रांकन होने का आभास देते हैं। इनके बनाने में बनाने वाले की कला, उसकी अभिव्यक्ति एवं उसकी सुरुचि की स्पष्ट झलक मिलती है। इन मांडनों को त्रिभुजाकार, वर्गाकार, आयताकार, चक्राकार, शंकुवाकार, स्वास्तिकाकार आदि वर्णों में उनकी आकृति की दृष्टि से वर्गीकृत किया जा सकता है। सभी मांडने दो अथवा तीन रेखाओं के क्रम को आधार बनाकर निर्मित किए जाते हैं।

- (अ) **त्रिभुजाकार मांडने** – त्रिभुजाकार मांडनों का अंकन आमतौर पर जगत जननी माँ भवानी को आसन प्रदान करने की दृष्टि से किया जाता है। त्रिभुजाकार मांडनों में त्रिभुज की तीनों रेखाओं को पृथ्वी पर खींचकर उसके तीनों कोणों के बिन्दुओं पर ध्वजा अथवा त्रिशूल आदि अंकित कर बनाया जाता है।
- (ब) **वर्गाकार मांडने** – इस प्रकार के मांडने भगवान श्री विष्णु अथवा उनके अवतारों के लिए निर्मित किए जाते हैं। इनकी चारों भुजाएँ सूत से नापकर बिल्कुल एक लम्बाई की बनाई जाती है। मांडने के चारों कोनों पर त्रिशूल अथवा शंखाकार आकृति अंकित की जाती है। कभी-कभी चोक के मध्य में स्वास्तिक अथवा सुमेरु पर्वत का भी अंकन किया जाता है।
- (स) **आयताकार मांडने** – इन मांडनों में आमने-सामने की दो भुजाएँ बड़ी होती है तथा दो भुजाएँ छोटी होती है। ये चारों भुजाएँ 900 अंश का कोण बनाते हुए आपस में मिलती है। इन मांडनों को पूजा का पटा (पाट) रखने हेतु निर्मित किया जाता है।
- (द) **चक्राकार मांडने** – एक डोरे को लेकर उसके एक सिरे को स्थिर करके डोरे के दूसरे सिरे को घुमाकर एक चक्र बनाया जाता है। फिर उस चक्र की बाह्य रेखा को शंख आकृति, चक्र, तिरछी रेखाओं, कमल पुष्प, सुमेरु पर्वत आदि से अलंकृत किया जाता है। वरुण देवता अथवा घर स्थापना के स्थान पर इन मांडनों का अंकन किया जाता है।
- (य) **शंकुवाकार मांडने** – शंकुवाकार मांडने वृत्त की आकृति लिए होते हैं। इन मांडनों में विभिन्न शंकुओं को मिलाकर चक्र बनाया जाता है, जिसे पत्तियों के आकार, गोल, बिन्दुओं, त्रिशूल, आड़ी तिरछी रेखाओं से अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार के मांडने आमतौर पर कलश स्थापना, नवग्रह स्थापना आदि के लिए बनाए जाते हैं।
- (र) **स्वस्तिकार मांडने** – ये मांडने स्वास्तिक चिन्ह को आधार मानकर बनाये जाते हैं। इन चौकों में स्वास्तिक की चारों उप-भुजाओं को एक साथ, एक दूसरे के साथ सम्मिलित करके तमाम छोटे-छोटे बिन्दुयुक्त वलयों, छोटी-छोटी रेखाओं, त्रिशूल, सुमेरुपर्वत आदि से अलंकृत किया जाता है। भगवान के आसन के नीचे इस प्रकार के मांडने का विशेष रूप से आलेखन किया जाता है।
- (ल) **अन्य मांडने** – दीपावली के अवसर पर मांडनों में दीप का अंकन एवं अन्य शुभ अवसरों पर अंकित मांडनों में घर अलंकरण भी देखने को मिलता है।

चन्देरी क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों में भी इन मांडनों के अलंकरण का उल्लेख मिलता है। सीमन्तोनयन संस्कार के अवसर पर जब गर्भवती स्त्री अपने मायके से लाये लाल वस्त्र पहनकर चौक पर बैठती है तब यह गीत गाया जाता है —

**सोने के दियल जराओ, गोरी धन चौके आई ।
चंदन चौक पुराओ, गौरी धन चौके आई ।।⁸**

निष्कर्ष — इस तरह सांस्कृतिक वैभव से सुसम्पन्न यह क्षेत्र अपनी लोककला शैली से यहाँ के जनजीवन के विश्वास और आस्था का दर्शन कराता है। यहाँ की लोककला सांस्कृतिक वैभव को दर्शाने का एक सशक्त माध्यम ही नहीं वरन् मन को हर्ष विभोर करने का एक सबल आधार भी है। यह सभी कलाओं में सर्वोपरि है। चन्देरी के अन्तर्गत बुन्देली लोक संस्कृति पर ग्वालियर कला का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

संदर्भ —

1. आर्चर पेंटिंग ऑफ इण्डिया, पृ. 8
2. गौरैलाल, भारतीय चित्रकला, पृ. 246
3. गौरैलाल, वही, पृ. 246—47
4. वही
5. मजूमदार कल्परत्न, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ. 291
6. गौरैलाल, भारतीय चित्रकला, पृ. 246
7. द्विवेदी, मध्यभारत का इतिहास, भाग 4, पृ. 405
8. जैन अल्पना एवं अविनाश, श्रमण संस्कृति का अमर तीर्थ, पृ. 12—14
9. गैरोला, भारतीय चित्रकला, पृ. 156—157, हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर के तोमर, पृ. 326—27

सिंधियाकालीन ग्वालियर राज्य में सैन्य प्रशिक्षण

डॉ. आनंद मिश्रा* एवं विजय सिंह धाकड़**

जब हम किसी राज्य अथवा राष्ट्र के बारे में अध्ययन करते हैं तो उस राज्य के उत्थान में उस राज्य की सैन्य शक्ति एवं सामान्य प्रशासन का विशिष्ट स्थान होता है।

ग्वालियर राज्य में सिंधिया शासकों ने प्रारम्भ में पेशवाशाही शासन व्यवस्था को अपनाया जो कालान्तर में नागरिक प्रशासन के रूप में परिवर्तित हुई। महादजी सिंधिया ने समय के अनुसार सेना को आधुनिक ढंग से प्रशिक्षित किया।

सैनिक प्रशिक्षण एवं अनुशासन

सिंधिया शासकों ने सैन्य शिक्षण की ओर पूर्णतः ध्यान दिया था। महादजी सिंधिया के पूर्व सेना को नियमित रूप से प्रशिक्षित नहीं किया जाता था। लेकिन महादजी सिंधिया ने जीवाइन नामक अधिकारी को नियुक्त किया। जिसने अंग्रेजी नियमों के अनुसार पल्टनों को प्रशिक्षित किया था।¹ ग्वालियर राज्य में वर्ष में कम से कम एक माह युद्ध का अभ्यास कराया जाता था। सिंधिया शासक अपने यहाँ के सैनिकों को बाहर भेजकर बन्दूक चलाने का और संचार सेवा का प्रशिक्षण दिलवाते थे। राज्य की सेना के अधिकारियों को बाहर प्रशिक्षित कराकर उनसे अपने सैनिकों को प्रशिक्षण कराते थे उसका एक मात्र कारण था अपनी सेना को अंग्रेजी सेना के समकक्ष लाना।² सन् 1916 में सैन्य प्रशिक्षण विद्यालय खोला गया जिसमें विभिन्न विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता था।³

भर्ती

ग्वालियर राज्य में अपने निवासियों को सैनिक सेवा में प्राथमिकता दी जाती थी। अतः राजकीय नीति यह थी कि राज्य में कहीं भी किसी जिले में बहादुर जातियाँ होती थी। वे जिले सुरक्षित घोषित कर दिये जाते थे। जैसे भिण्ड, करैरा, तवरघार, नरवर, अम्बाह आदि जिले सुरक्षित घोषित कर दिये गये थे।⁴ महाराजा माधवराव सिंधिया के समय भर्ती में जातियों का प्रतिशत निश्चित कर दिया गया था।

जाति	प्रतिशत
1. मुसलमान	3
2. दीगर	1/2
3. मराठे	1/6

दूसरी किस्म की ब्राह्मण, राजपूत, वैश्व, कायस्थ व पारसी शामिल है का प्रतिशत निम्नानुसार निश्चित कर दिया गया।⁵

* शोध निर्देशक, कुलसचिव जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

** शोधछात्र (इतिहास)जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

	जाति	प्रतिशत
1.	ब्राह्मण	1 / 6
2.	राजपूत	1 / 12
3.	वैश्य	1 / 12
4.	कायस्थ	1 / 32
5.	पारसी	1 / 12

युद्ध के समय भर्ती की विशेष व्यवस्था की जाती थी। प्रथम विश्व युद्ध के समय राज्य में भर्ती की विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न प्रकार रंगरूट भर्ती किये गये थे।⁶

बोर्ड	संख्या
केन्द्रीय भर्ती बोर्ड	1968
जिला भर्ती बोर्ड—गिर्द ग्वालियर	415
जिला भर्ती बोर्ड—तवरघार	811
जिला भर्ती बोर्ड—नरवर	457
जिला भर्ती बोर्ड—श्योपुर	21
जिला भर्ती बोर्ड—भिण्ड	618
जिला भर्ती बोर्ड—ईसागढ़	85
जिला भर्ती बोर्ड—भेलसा	19
जिला भर्ती बोर्ड—उज्जैन	235
जिला भर्ती बोर्ड—शाजापुर	53
जिला भर्ती बोर्ड—मन्दसौर	58
जिला भर्ती बोर्ड—अमझेरा	10
योग	4750

राज्य में 19 दिसम्बर 1942 को सेन्ट्रल रिक्लूटिंग बोर्ड की स्थापना की गई थी। बोर्ड की अधीनता में प्रत्येक जिले के सूवा साहवान कार्य करते थे। और प्रत्येक जिले में एक रिक्लूटिंग आफिसर नियुक्त किया गया था। अगर कोई भर्ती के लिये आर्मी हेड क्वार्टर्स आता था तो उसे सरकार खुराक तथा आने जाने का खर्चा देती थी।

भर्ती का कार्य— 8 जिलों मुरैना, भिण्ड, गिर्द, शिवपुरी, श्योपुर (शोपुर), गुना, उज्जैन तथा आगर (शाजापुर) में आरंभ किया गया।

फौज में मराठा, मुसलमान, ठाकुर, ब्राह्मण, गूजर, जाट, अहीर, सिक्ख दोंगी, रघुवंशी, वागरी, धाकड़, किरार तथा रावत जाति के लोगों को भर्ती किया गया।

योग्यता

आयु	18—25 वर्ष
ऊँचाई	5 फुट 6 इंच
सीना	32 इंच

वेतन एवं सेवा निवृत्ति वेतन (पेंशन)

ग्वालियर राज्य में महाराजा महादजी सिंधिया के समय पूरी पल्टन को निम्नानुसार वेतन एवं भत्ता दिया जाता था ।⁷

पैदल	प्रतिमाह वेतन (रूपये में)
1 कैप्टन	-----
1 लैफ्टिनेन्ट	-----
1 एडजूटेन्ट	35-00
8 जमादार	20-00
1 रिसालदार मेजर	10-00
32 नायक	8, 8
2 निशानबरदार	12-00
22 वाद्य यंत्र वादक	12-00
416 सैनिक	5-8

484

अश्वारोही

1 रिसालदार	40-00
1 नायब रिसालदार	30-00
4 जमादार	30-00
4 दफेदार	18-00
64 सवार	12-00
1 नक्कारची	7-00
35 बन्दूकची	8-00

110

तोपखाना

1 सरजेन्ट मेजर (यूरोपियन)	60-00
5 गोलन्दाज (यूरोपियन)	8-00
1 जमादार	30-00
2 हवलदार	15-00
5 नायक	9-00
5 सारंग (बैलों के लिये)	9-00
5 टिंडल (पार्क सार्जेन्ट)	6 से 8
35 गोलन्दाज (देसी बन्दूकची)	6 से 8
35 खल्लासी	4 से 5
52 हॉकने वाले लोहार आदि	4 से 6

महाराजा महादजी सिंधिया की सेना में यूरोपीयन भी थे उन्हें भारतीयों से ज्यादा वेतन दिया था। उन्हें हिन्दुस्तान में और चम्बल पार में अलग-अलग वेतन दिया जाता था जो निम्नानुसार है—

हिन्दुस्तान में (तत्कालीन प्रचलित रूपया)		चम्बल पार (तत्कालीन प्रचलित रूपया)
कर्नल	3000	4500
लेफ्टिनेन्ट कर्नल	2000	3000
मेजर	1200	1800
कप्तान	400	600
लेफ्टिनेन्ट कप्तान	300	450
लेफ्टिनेन्ट	200	300
निशानवरदार	150	225

कर्नल, लेफ्टिनेन्ट कर्नल और मेजर जब ब्रिगेडों के कमाण्ड पर होते थे, तब उनको भत्ता के रूप में 100 रूपये प्रतिमाह मिलता था।

महाराजा माधव राव सिंधिया के शासन काल में सैनिक को 18 रूपये, अश्वारोही को 42 रूपये, घोड़ों के तोपखाना के गोलन्दाज को 22 रूपये और पैदल तोपखाना के तोपची को 19 रूपये मिलते थे।⁹ ग्वालियर राज्य में अधिकांश पद पेन्शन की पात्रता रखने वाले थे। अधिकांश तथा सेवा निवृत्ति मूल वेतन की 1/4 भाग होती थी लेकिन अच्छी सेवा करने पर सेवा निवृत्ति मूल वेतन का अधा भाग उच्च अधिकारियों को दिया जाता था। सेवोपहार (ग्रेच्युटी) उन लोगों को देने की व्यवस्था थी जो बौद्धिक या शारीरिक कार्य की अयोग्यता के कारण पृथक किये जाते थे।⁹ परंतु किसी कारण से सैन्य-सेवा से पृथक किये गये कर्मचारी को सेवा निवृत्ति वेतन की पात्रता नहीं रहती थी।¹⁰ राज्य में सेना में अनिवार्य सेवा निवृत्ति भी दी जा सकती थी।¹¹ जो अधिकारी व सैनिक कमीशन प्राप्त नहीं थे, उन्हें 1/3 (मूल वेतन का) से अधिक देने का नियम नहीं था।¹² अनिवार्य सेवा निवृत्ति भी दी जा सकती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंधिया शासकों ने ग्वालियर राज्य की स्थापना के बाद से ही सैन्य व्यवस्थाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की तथा सेना के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ग्रान्ट डफ जेम्स कनिंघम—मराठों का इतिहास, अनुवादक लक्ष्मीकान्त मालवीय, महामना प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद सन् 1964 पृ0 619
2. माधव राव सिंधिया—पालिसी दरबार मिलिट्री व पुलिस डिपार्टमेन्ट भाग-3, आलीजाह दरबार प्रेस ग्वालियर सन् 1922 पृ0 14,16

3. जयाजी प्रताप माधव महाराज स्मृति अंक जून 1926 मिलिट्री एस्पेक्ट आफ दि लाइफ आफ हिजलेट हायनेस महाराजा माधव राव सिंधिया—मेजर जनरल जी० आर० राजबाड़े लेख से पृ० 4
4. माधव राव सिंधिया—पालिसी दरबार भाग—3 पृ० 30
5. जनरल पालिसी दरवार रियासत ग्वालियर आलीजाह दरबार प्रेस 1922 पृ० 200—201
6. ग्वालियर्स पार्ट इन दि वार 1914—18 मुहम्मद रफी उल्ला, हेजलिट वाटसन एण्ड विनी लिमि० लन्दन सन् 1920 पृ० 11
7. गजेटियर ग्वालियर राज्य (पुनः मुद्रण) सी० ई० लुआर्ड— अनुवादक—हकदाद खॉ, प्रकाशक—गजेटियर अनुभाग राजभाषा एवं संस्कृति संचालनालय मध्यप्रदेश शासन भोपाल 1996 पृ० 156—57
8. माधव राव— पालिसी दरबार भाग 3 पृ० 28
9. गजेटियर ग्वालियर राज्य (पुनः मुद्रण) 1996 पृ० 162
10. मिसल नं. 11 सन् 1916 आर्मी डिपार्टमेन्ट हुजूर दरबार राजकीय अभिलेखागार म०प्र० भोपाल से ।
11. माधव राव सिंधिया—पालिसी दरबार भाग 3 पृ० 18
12. फाइल नं. 62 सन् 1930 आर्मी डिपार्टमेन्ट, काउन्सिल आफ रीजेन्सी, ग्वालियर—राजकीय अभिलेखागार म०प्र० भोपाल से

पर्यटन उत्पाद—एक जटिल उत्पाद

प्रो. के. रतनम्*

पर्यटन उत्पाद में भौतिकी के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक संरचना भी शामिल होती है, जिसके सामने अपने को यथार्थ में बदलने की चुनौती होती है। इस चुनौती का सामना करने में समस्या यह होती है कि विभिन्न संस्कृतियों की प्राथमिकताएं और पसन्द-नापसन्द (प्रतीतियाँ) अलग-अलग होती हैं। विश्व स्तर पर पर्यटन व्यावसायिक संतुष्टिकरण का एक शाश्वत (ज्यादातर पश्चिमी) मानदण्ड निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं। गुणवत्ता नियंत्रण की समस्या के अलावा संयोग भी एक ऐसा कारक है, जिसके कारण सुनियोजित भ्रमण कार्यक्रम भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। प्राकृतिक कारणों या मनुष्य की गलती के कारण या फिर दुर्घटना या अचानक और अनदेखी परिस्थितियों के कारण भी कार्यक्रम गड़बड़ा सकता है। पर्यटन सेवाओं में जोखिम काफी अधिक होता है। क्योंकि इन सेवाओं की विलास माना जाता है और अनिवार्य सेवाओं के बाद ही इन पर यान दिया जाता है। स्थानीय लोग अक्सर पर्यटन के प्रति विद्वेष भाव रखते हैं क्योंकि वे इसे पाँच सितारा संस्कृति की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। इसके अलावा उनकी जीवन शैली और पर्यटकों की जीवन शैली में काफी अंतर होता है। पर्यटन सेवाओं के उत्पादकों को भी जोखिम उठाना पड़ता है।¹ भ्रमण सेवाओं का उपभोग रास्ते में और गंतव्य स्थल पर किया जाता है। उन्हें पहले से जांचा-परखा और देखा नहीं जा सकता और न ही उसकी तुलना की जा सकती है वे पहले की साख और विज्ञापन पर निर्भर करते हैं।² सेवाएं किसी खास ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ में पैदा की जाती हैं और ये कार्य करने की पद्धति से प्रभावित होती हैं।

इसके अतिरिक्त सेवाओं की आपूर्ति तय होती है और इनकी तैयारी पहले ही कर ली जाती है। किन्तु उत्पादों की पूर्वी तरह खपत न होने का जोखिम उत्पादक को ही उठाना पड़ता है। सेवाओं के बारे में यह कहना है कि यात्री सेवाओं का भंडारण नहीं किया जा सकता है, उदाहरण के लिए किसी हवाई जहाज में किसी खास दिन बची हुई सीट या होटल के खाली कमरे के उपयोग को दूसरे दिन या समय या स्थान तक आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। इसलिए किसी सेवा की मांग और ढोने की क्षमता का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन और आंकलन कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए अक्सर यह कहा जाता है कि भारत के हवाई जहाज की अपर्याप्तता के कारण पर्यटकों के आगमन में बाधा उत्पन्न होती है। इस कमी को पूरा करने के लिए एयर टैक्सियाँ की शुरुआत की गई है, पर इन सेवाओं के शुरु होने से नई मांग नहीं पैदा की जा सकी है या फिर इनसे कमी की भरपाई नहीं हुई है। बल्कि इन्होंने एयर लाइन्स के 20 प्रतिशत यात्रियों को ही अपनी ओर आकृष्ट किया है। इससे इण्डियन एयर लाइन्स और एयर टैक्सी दोनों के लिए सफर पैदा हो गया है और इसके अतिरिक्त 6.5 करोड़ रु. की विदेशी मुद्रा की भी हानि हुई है। पर्यटन में मांग स्थिर नहीं होती है और प्रवृत्तियाँ में तेरी से बदलाव आता है परन्तु सेवाओं के निर्माण में समय लगता है।³ होटल और परिवहन जैसी सेवाएं एक बार उपलब्ध हो जाने पर लम्बे समय तक कायम रहती

* प्राध्यापक (इतिहास) कमलाराजा शासकीय स्नातकोत्तर (स्वशासी) कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

हैं। अक्सर इनकी मांग में बदलाव आता है, पर ये सेवाएं हमेशा मौजूद रहती हैं। यह सेवाएं उत्पादक के लिए सदैव लाभप्रद और मुनाफा देने वाली नहीं होती हैं। विकासशील देशों में जोखिम को एक पर्यटन मौसम से दूसरे पर्यटन मौसम में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है।⁴ मांग आपूर्ति जैसी बाधाओं और सामाजिक-राजनीतिक कारणों के अलावा सेवाओं को चलाने वाले और उपलब्ध कराने वाले लोग भी मौसम (गर्मी और बरसात) से प्रभावित होते हैं। उनके पास विपणन में निवेश करने के लिए पूंजी की भी कमी होती है। कई मामलों में वे काफी हद तक अनौपचारिक क्षेत्र :- जैसे-दलाल या विचौलिए पर निर्भर करते हैं, ऐसे लोगों को पर्यटन सन्देश की निगाह से देखते हैं और उनके काम करने के तरीके से असुविधा भी महसूस करते हैं।⁵ इसके बावजूद छोटे स्तर के संचालक मुख्य रूप से मौखिक प्रार्थनाओं और दलाल तथा बिचौलियों जैसे अनौपचारिक क्षेत्र से सीधा सम्पर्क स्थापित कर मुनाफा कमाते हैं।⁶

पर्यटन उत्पाद के बिना पर्यटन का अस्तित्व नहीं हो सकता और इसका विपणन करना भी संभव नहीं है। पर्यटन उत्पाद पर्यटकों की रुचि, आराम, प्रसन्नता और स्थल विशेष पर उपलब्ध सुविधाओं एवं उपयोगिताओं से निर्मित होता है।⁷ एक पर्यटक की जरूरतों का संबंध यात्रा, आवास, भोजन आदि की सुविधाओं और खुशी तथा मनचाहे और आकर्षक स्थलों के भ्रमण से होता है। अतएव एक पर्यटक पर्यटन स्थल पर निम्नलिखित बातों की अपेक्षा करता है⁸—

1. उसकी अच्छी आवभगत और देखभाल की जायेगी।
2. वह मनपसन्द जगहों पर जायेगा, वहां पर्याप्त समय विताएगा और अपनी मनपसन्द गतिविधियों में शामिल होगा और खूब आनन्द लेगा।
3. परिवहन के इन्तजार में या खराब मौसम के कारण उसे इधर-उधर समय नहीं व्यर्थ करना पड़ेगा।
4. मनपसंद स्थलें से लौटने की जल्दी नहीं होगी।
5. स्वाद और स्वास्थ्य के अनुरूप भोजन प्राप्त होगा।
6. साथ में अच्छे लोगों का समूह होगा।
7. अपनी पसंद के अनुसार नए स्थान की स्थानीय जीवन शैलियां, संस्कृति, भोजन आदि का अनुभव प्राप्त हो सकेगा।
8. स्वयं तथा सामान आदि की सुरक्षा के पर्याप्त प्रबंध होंगे।

पर्यटकों की इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मुख्य तीन जरूरतें होती हैं⁹ —

- आकषण
- सुविधाएं और
- पहुँच

इन तीनों से मिलकर ही पर्यटन उत्पाद बनता है।

आकर्षण स्थलों को दिखाकर एक पर्यटक को आनन्दित एवं आकर्षित किया जा सकता है। समुद्र तट, पर्वत श्रृंखलाएं, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, इतिहास और संस्कृति का

प्रतिनिधित्व करने वाले स्थानों, मनोरंजन संबंधी कार्यक्रमों में आकर्षण होता है।¹⁰ सुविधाओं में विभिन्न प्रकार के आरामों का ख्याल रखना तथा आवास, भोजन, संचार, गाइड आदि सुविधाएं शामिल होती हैं। पहुँच के अंतर्गत किसी स्थान पर पहुँचने की औपचारिकताएं शामिल होती हैं:— जैसे—बीजा, सीमा शुल्क, बुकिंग इत्यादि, बिना दिक्कत और नुकसान के आवास, विनिमय, परिवहन आदि की व्यवस्था।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताएं तथा सुविधाएं जहां पर पर्यटक को मिलती हैं या मौजूद रहती हैं। वह पर्यटक उत्पाद होता है। पर्यटकों को उसकी ओर आकर्षित किया जा सकता है तथा उस स्थल का पर्यटन उत्पाद के रूप में विकास किया जा सकता है।¹¹

जब कोई उत्पाद मनुष्य को उसकी नियमित दिनचर्या के अलावा कहीं दूसरी जगह जाकर अपना मनोरंजन कर व्यापार की आवश्यकता या अवकाश के रूप में कुछ समय उसे मानसिक व शारीरिक संतुष्टि प्रदान करता है वहीं पर्यटन उत्पाद कहलाता है।

सामान्य शब्दों में उत्पाद एक दृश्य, एक वस्तु, एक स्थान, एक व्यक्ति एक घटना या ऐसी संस्था है, जो एक व्यक्ति की आवश्यकताओं को संतुष्ट कर कसे। पर्यटन का नियम है उत्पाद प्रस्तुत करने वाले व उत्पाद प्राप्त करने वाले दोनों ही परस्पर संतुष्ट होने चाहिए।

पर्यटन उत्पाद एक जटिल उत्पाद होता है। इसमें विभिन्न व्यक्तियों के कई सारे प्रयत्न शामिल होते हैं। इनमें से कुछ पर्यटक स्थल पर अवस्थित होते हैं, जैसे— होटल, दुकानें, आकर्षण स्थल, गाइड आदि कुछ पर्यटन के उद्गम स्थलों में स्थित होते हैं जैसे—बीजा प्रदान करने के लिए दूतावास, ट्रेवल एजेंसियाँ, टुअर ऑपरेटर तथा कुछ पर्यटन के दौरान रास्ते में वास्ता पड़ता है जैसे—सीमा शुल्क, परिवहन, विनिमय आदि।

सन्दर्भ

1. नेगी, डॉ. जगमोहन—पर्यटन एवं यात्रा के सिद्धान्त, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992 पृ. 17
2. वही
3. चौपड़ा, सुनिता—टुअरिज्म डवलपमेंट इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1992, पृ. 31
4. भाटिया, ए.के.—टुअरिज्म डवलपमेंट प्रिंसिपल्स एण्ड प्रेक्टिस, स्टर्लिंग पब्लिशिंग प्रा.लि., नई दिल्ली, 1986, पृ. 71
5. वही
6. वही
7. सेठ, प्रेमनाथ—सक्सेसफुल टुअरिज्म मैनेजमेंट, प्रथम संस्करण 1978, पृ. 39
8. आचार्य राम—वर्ल्ड टुअरिज्म, नेशनल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1981, पृ. 7-8
9. अख्तर, जावेद—टुअरिज्म मैनेजमेंट इन इण्डिया, आशीश पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, 1990, पृ. 117
10. आनन्द, एम.एस.—टुअरिज्म एण्ड होटल इण्डस्ट्री इन इण्डिया, 1986, पृ. 52
11. नेगी, डॉ. जगमोहन—पूर्वोक्त, पृ. 19-20

अवध की लोक संस्कृति का ग्वालियर पर प्रभाव

डॉ. नीत बिहारी लाल*

“कौशल” देश के नाम से भारतीय इतिहास में रामायण काल से सन्दर्भ मिलते हैं। ऐतिहासिक काल में कौशल प्रदेश प्राचीन भारतीय प्रमुख प्रदेशों में से एक था, जो मध्यकाल में आवाज के नाम से पहचान जाना गया और उपनिवेशकाल से लेकर वर्तमान समय तक अवध क्षेत्र के साथ में जाना जाता है। अवध क्षेत्र का केन्द्र लखनऊ रहा है। सूर्यवाशियों की जन्म एवं कर्मस्थली रहा है सूर्यवंशी राजाओं की श्रेणी में सर्वशक्तिमान जिन्हें हम भगवान श्रीराम के रूप में पूजते हैं कौशल की राजधानी अयोध्या में ही जन्मे थे, इसीलिये ही नहीं वरन् कौशल प्रदेश ने कई सूर्यवंशीय राजाओं की जन्मस्थली रही अगर हम इतिहास के पन्नों को उलटकर देखें तो कौशल प्रदेश में जन्मे राजाओं की वीरता सदैव कौशल प्रदेश को गौरवान्वित करती रहेगी। सूर्यवंशी मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम प्राचीन समय से ही भारत में जन-जन के आराध्य देव हैं। राम त्रेता युग के अंत में हुये है यह सर्वविदित है कुछ लोग राम को लाखों वर्षपुरानी मानते हैं।¹ सूर्यवंशी शासकों में मर्यादा पुरुषोत्तम राम सर्वाधिक शक्तिशाली हुए, कौशल की राजधानी अयोध्या की अर्चना वन्दना अनेक प्राचीनतम ग्रन्थों में बार-बार की गई है। प्रो० कृष्णकान्त वाजपेयी ने लिखा है “प्राचीन अयोध्या का नाम कौशल प्रसिद्ध हो गया था”² इसिलिये कौशल (अवध) प्रदेश आदिकाल से ही भारत वर्ष की सभ्यता एवं संस्कृति वन मूल बिन्दु रहा है। भारत की आत्मा अयोध्या लक्ष्मणवती जैसे यहाँ के प्रमुख नगरों में बसती रही है। इन नगरों के सांस्कृतिक वैभव को सुनकर देवता भी इनकी एक झलक पाने को व्याकुल रहे हैं।

अयोध्या का वर्णन करते हुए महाकवि कालीदास ने भी लिखा है अयोध्यापुरी क्षत्रियों के तेज की जमी धन धान्य से पूर्ण दिव्य नगरी ऐसे जान पड़ती थी, मानो योग के भार से वह स्वर्ग तल पर उतर आयी है।³

अयोध्या ने 12वीं और 16वीं सदी के मध्य “अवध” नाम पाया और बाद में कवियों ने इसी नाम से सम्बोधित किया। इस प्रकार अयोध्या विभिन्न समयों में अनेक नामों से सम्बोधित की गई। किन्तु प्राचीन एवं सर्वमान्य अयोध्या नाम ही अधिक प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हुआ।

हिन्दु संस्कृति के मूल स्थान “कौशल” प्रदेश ने अवध नाम मुगल शासन के दौरान पाया। अकबर के शासन काल में पन्द्रह सूबे में से एक सूबा अवध था, सम्राट के समय से ही अवध नाम अधिक प्रसिद्ध हो गया।

मुगल बादशाह के समय से अवध में नवाब राजवंश की स्थापना हुई सन् 1720 ई० में मुहम्मद शाह ने सैय्यद मुहम्मद अमीन के अवध का सूबेदार नियुक्त किया, वह अवध के प्रथम नवाब थे। इसके पश्चात् अवध की गद्दी पर 11 नवाब अवध का सम्पूर्ण दोहा उत्तर प्रदेश में समाहित कर लिया गया।

* इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, मॉठ, मथुरा (उ.प्र.)

इस प्रकार (कौशल) प्राचीन एवं अवध (आधुनिक) उत्तर प्रदेश ने विभिन्न शताब्दियों में बहुत से उतार चढ़ाव देखे हैं।

नवाबी शासन में लखनऊ में (अवध) मुस्लिम संस्कृति खूब कली कूली फारसी और अरबी की पाठ्यपुस्तकें और धर्म ग्रन्थ जैसे लखनऊ में छपे कही और नहीं छप सके। उस समय की पुस्तकें आजकल एक सम्पत्ति की तरह मानी जाती है, उनका इतना ही महत्व इस क्षेत्र में भी है।

उर्दू जवान दिल्ली से अबध (लखनऊ) आई, यही से उर्दू शायरी की शुरुआत हुई।³ यहाँ से यह देश के अन्य आयों में कैली, उत्तरी मध्य प्रदेश में भी शेर-शायरी बड़ी दिलचस्पी से पढ़ी और सुनी जाती है "ग्वालियर का व्यापार मेले" में जो प्रतिवर्ष लाल अन्तिम दिनों से शुरु होकर नववर्ष के प्रथम माह तक ग्वालियर में लगता है इस मेले में भी शेर-शायरी के विभिन्न आयोजन "मुशायरा" समय-समय पर आयोजित करवाये जाते हैं। साथ ही लखनवी जीवन एवं उससे जुड़ी संस्कृति के दिलचस्प पहलू शेर-शायरी, गजल-कब्बाली आदि प्रभुत्वता स्थान पाये हुए है। उत्तरी मध्य प्रदेश के जनमानस भी अपनी दिनचार्य में नवाबी संस्कृति के उतारने का पुरजोर प्रयास कर रहा है।

नवाबों, बेगमों तथा आम जनता में नि.लि. वस्त्रों का प्रचलन था, नीमजामर, परका, अंगरखा, अचकन, पयजामा, सलूका, शेखानी, शाल, सलवार, कमीज (कुर्ता) दुपट्टा, चुनरी या ओढ़नी सरारा (घेरदार घांघरा) आदि।

ग्वालियर में अचकल, पायजामा, शेरबानी, शाल, सलवार कमीज दुपट्टा आदि वस्त्र उत्तरी मध्य प्रदेश की जनता द्वारा बहुतायत में पहने जाते हैं समयानुसार इन वस्त्रों की बनावट में अंतर आया है पर यहाँ यह वस्त्र बहुतायत में पहले जाते है। नजाकत अवध की प्रत्येक वस्तु में झलकती है वस्त्र भी इससे अछूते नहीं है।⁴ वस्त्रों में यहाँ नाजुक रेशमी, मखमली कपड़े के बनते थे, जिनमें उच्च स्तर का अलंकरण रहता था, बरीफ कसीदारी एवं सचमा सितारों का युक्त सुनहला चमकीले तारे कढ़ाई शक्ति एवं गौरव प्रदान करता था।

इसी प्रकार हर एक वस्त्र में चाहे वह चुनरी ही क्यों न हो बड़ी ही खूबसूरती से उस पर बारीक बेलबूटों का कम रहता था, इसके अतिरिक्त परों की जरी के काम की जूतियाँ आदि। उत्तरी मध्य प्रदेश भी अवध के इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। नवाबों एवं वृद्धों के हाथों में सुन्दर-सुन्दर नाजुक छाड़ियों के हाथ में लेकर चलने का रिवाज था, जो यहाँ पर भी नजर आता है।

ग्वालियर में आभूषण मुख्य रूप से सोने, चाँदी, गिलीट के उपयोग में लाये जाते थे, पर अवध के प्रभाव में आने से आभूषणों में मोतियों, मणियों, कीमती नगों का जुड़ाव (रान जड़ित) तथा मीने का काम शुरु हुआ। मोतियों की मालाओ ने गजे के आभूषणों में प्रभुत्व स्थान बना लिया जो यहाँ की संस्कृति में भी दिखाई पड़ती है।⁵

अयोध्या नगरी के भारतीय संस्कृति का प्रतीक माना जाता है। भारतीय तीर्थ स्थानों में जिन 7 महानगरों का पवित्र माना गया है उसमें अयोध्या के प्रथम स्थान माना गया है।

उदाहरण : — अयोध्या मथुरा, माया, काशी, ऊँची, हामवन्ति का।

एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमत्रमः।

निम्न श्लोक में वही 7 पवित्र तीर्थस्थलों का वर्णन है जो मोक्षादायक भी है।
(1) अयोध्या (2) माया (3) काशी (4) ऊँची (5) अवतिका (6) मथुरा (7) द्वारिका। वाराणसी (उ०प्र०)।

ग्वालियर में राम एक परमोपास्यदेव है तथा राम सीता, लक्ष्मण के देवालय द्वारा संस्कृत भाषा महाकाव्य है। इसी रामायण का वातामिक द्वारा संस्कृत भाषा महाकाव्य है। इसी रामायण का अवधि (भाषा) तुलसीदास कृत "रामचरित मानस" सरल, सुबोध तथा ग्राह्य होने के कारण हर हिन्दु के हार में पढ़ी व श्रद्धा के भाव से देखी जाती है।⁶

ग्वालियर क्षेत्र की लोक संस्कृति का आधार धार्मिक रहा है अवध भी लोक संस्कृति भी रामायण होने के कारण धार्मिक ही रही है। अतः उत्तरी म.प्र. के क्षेत्र ग्वालियर तथा चम्बल सम्भागों के लोक-गीत धार्मिक मान्यताओं एवं परम्पराओं पर आधारित है।

उदाहरण के लिये हम ग्वालियर अंचल में प्रचलित लोकगीतों को उद्धरत का स्पष्ट करते हैं।

लोकगीत

1. वन चले दोनों आई, इन्हें कोई रोको कोई समझाओं रे भाई हाथों हो,
इन्हें समझाओं रे भाई। वन चले।
2. वैर कौशल्या की गोद, रामचन्द्र दुल्हा वने
उनके सेहरे पे नाच रही मोर। रामचन्द्र दुलहा वने।
3. जन्म लिये मेरे रघुराई, अवधपुरी में बहार आई कलियों ने घूँघट
खाले, और भी हँस-हँस बोले, बादल ने रिमझिम आई। अवधपुरी.....

लोकगीतों के अतिरिक्त ग्वालियर क्षेत्र में प्रचलित कहावतें भी जनप्रिय हैं। अवध की संस्कृति एवं स्थानीय भाषा का प्रयोग भिण्ड तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में भी दिखलाई पड़ती है।⁷

"रघुकुल रीति सदा चल आई प्राण जाए पर वचन न जाहि" उक्त पक्ति का इस क्षेत्र में पूर्णता से पालन किया जाता है "रामचरित मानव" की अन्य चौपाइयाँ भी जीवनदर्शन में उतरा गया है।

ग्वालियर में त्यौहार तथा विभिन्न सामाजिक उत्सवों में प्रयुक्त लोक काल के स्वरूप पर भी अवध के लोक कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अवध की लोक कला में प्रयुक्त 'गोवर' का प्रयोग समान रूप से ग्वालियर की लोक कला की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए किया जाता है।

अवध की लोक कला का प्रमाण ग्वालियर की लोक कला पर व्यापक रहा है। अवध की लोक कला में प्रयुक्त प्रतीक चिन्हों के प्रकार जैसे ऊँ, गणेश, चौक, चाँद तथा सूर्य की आकृति समान दिखलाई पड़ती है।

लोक भाषा की दृष्टि से ग्वालियर के लोक आचरण में प्रयुक्त अनेक अवध भाषा के शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है अथवा लोक जीवन के प्रयुक्त अनेक शब्द ग्वालियर में प्रयोग किये जाते हैं।

अवध की लोक कला एवं भाषा के समान ही ग्वालियर के संगीत एवं नृत्य शैलियों पर भी अवध का आंशिक प्रभाव देखने को मिलता है। ग्वालियर क्षेत्र में प्रचलित राई नृत्य तथा उसने प्रयुक्त संगीत एवं वाद्य यंत्रों का प्रयोग अवध शैली का प्रभाव है।

उपर्युक्त विवेचना के उपरानत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवध की लोक संस्कृति का ग्वालियर की लोक संस्कृति पर कहीं—कहीं आंशिक तो कहीं—कहीं व्यापक प्रभाव था। जहाँ भाषा एवं लोक साहित्य पर आंशिक प्रभाव था, वही लोकचरण में भेष—भूषा तथा लोक कला एवं संगीत पर व्यापक प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

सन्दर्भ :

1. रामचन्द्र अग्रवाल, भारत का नवीन इतिहास, दिल्ली 1992 पृष्ठ 41
2. प्रो० कृष्ण दत्त वाजपेयी, युगों—युगों में उत्तर प्रदेश, शिक्षा विभाग, लखनऊ 1955 पृष्ठ 6
3. अमृतलाल नागर, गदर के फूल (उपन्यास), दिल्ली 1992 पृष्ठ 56
4. डॉ. रणवीर सिंह सेंगर, ग्वालियर राज्य की सामाजिक—आर्थिक एवं धार्मिक दशा, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर 2002 पृष्ठ 171
5. वही
6. डॉ. शुभम् सुदा कमठान, उत्तरी मध्य प्रदेश की लोक संस्कृति का इतिहास, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर 2003 पृष्ठ 171
7. वही

हिन्दी पत्रकारिता में पं. मदनमोहन मालवीय का योगदान

डॉ. राजरानी शर्मा* एवं डॉ. अंजुली रतनम्**

आधुनिक भारत उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में जहाँ भारतीय अस्मिता परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ी थी वहीं कुछ वैचारिक शक्तियाँ भारत को स्वतंत्र सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र बनाने के लिए भी प्रयासरत थी। भारतीय जनमानस में एक वैचारिक क्रांति का अभ्युदय हुआ। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत में सामाजिक धार्मिक पुनुरुद्धार के जो भी विविध कार्य प्रारम्भ हुये वे वस्तुतः इस वैचारिक उद्घोष का ही परिणाम थे। 20वीं शती के प्रारम्भ में उनके मनीषियों स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, पं. मदनमोहन मालवीय, महर्षि अरविंद, डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार आदि ऐसे ही चिन्तक थे। जिन्होंने अपनी वैचारिक शक्ति से भारत की सुप्त अस्मिता को बौद्धिक-वैचारिक क्रियाकलापों से समाज को न केवल जागृत करने का प्रयास किया, अपितु भारतीय समाज का ध्यान उन कमजोरियों की ओर आकृष्ट करने भी का प्रयास किया जिसके फलस्वरूप भारत परतंत्र हुआ था।

पं. मदनमोहन मालवीय ने अपने चिन्तन से हिन्दू समाज को दृष्टि प्रदान करते हुए उन्होंने विविध नव प्रकल्पों के द्वारा राष्ट्रीय चेतना को जागृत बनाये रखने का सराहनीय कार्य किया। मालवीय जी ने भारत की स्वतंत्रता के लिए चल रहे समाज जागरण के प्रयासों को अपने चिंतन से प्रभावित किया लेकिन उन्होंने शिक्षा, पत्रकारिता जैसे वैचारिक पक्षों को अपनी अंतिम श्वास तक वैचारिक संबल प्रदान के लिए पत्रकारिता के क्षेत्र का चयन किया। भारत में पत्रकारिता का इतिहास प्राचीनतम है। यद्यपि उसके स्वरूप की तुलना समसामयिक परिस्थितियों से करना न्यायसंगत नहीं होगा। आधुनिक भारत में पत्रकारिता का व्यावहारिक इतिहास 1857 ई. में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् प्रारंभ होता है। सन् 1857 में भारत में लगभग 525 पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती थी। इमनें 174 अंग्रेजी भाषा में और 374 भारतीय भाषाओं में या अंग्रेजी के साथ किसी देशी भाषा में प्रकाशित होती थी।¹ इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकायें यूरोपियनों और पादरियों द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार के लिए और कुछ यूरोपियन और एंग्लो-इण्डियन व्यापारियों द्वारा किसी प्रसिद्ध यूरोपियन के सम्पादकत्व में प्रकाशित होते थे।

तत्कालीन समय में कुछ ऐसे ही भारतीय स्तम्भकार थे जिनका उद्देश्य भारतीय हितों की रक्षा करना देश की समस्याओं का भारतीय दृष्टिकोण से विश्लेषण, जनता के कष्टों के निवारण पर आग्रह, जनता की आकांक्षाओं का समर्थन, तथा लोकतांत्रिक विचारों का प्रसार आदि था। प्रजातीय अहंकार से नियुक्ति व्यवहार, पक्षपात रहित न्याय, जनहितकारी, नीतियों का अनुशरण प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास तथा भारत के शासन में समता और क्षमता के आधार पर भारतीय, प्रजा की साझेदारी, इस युग के भारतीय पत्रकारों की मांगे थी।² यद्यपि अधिकांश भारतीय पत्रकार मध्यमवर्गीय विचारों और आकांक्षाओं का प्रतिपादन प्रचार और

* प्राध्यापक हिन्दी, कमलाराजा शा.कन्या स्नातकोत्तर (स्वशासी), महाविद्यालय, ग्वालियर

** शोध छात्रा (हिन्दी), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

पोषण करते थे, पर ये बातें सब पत्रों के संबंध में नहीं कही जा सकती। कतिपय पत्रकारों का दृष्टिकोण मूलतः परम्परावादी था और कतिपय समाजसुधार पर ही जो देते थे। अधिकांश किसी न किसी अंश में सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के सुधारों के पक्ष में थे।⁸

जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासन अथवा ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रायोजित पत्र भारत विशेषकर हिन्दू धर्म की छवि को प्रारम्भ से ही धूमिल करने का शङ्क्यंत्र कर रहे थे वही दूसरी ओर भारतीय समाचार-पत्रों ने अंग्रेजी-पत्रों के भारत विरोधी प्रचार का समुचित उत्तर दिया और भारतीयों को विदेशी शासन की त्रुटियों से अवगत कराया। इस प्रकार के समाचार पत्रों में 'उदन्त मार्तण्ड' नामक हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र 9 फरवरी 1826 को जुगल किशोर तथा मनुठाकुर के संपादन तथा संरक्षण में प्रकाशित हुआ।⁹ इसके अलावा संवाद कौमुदी (1822), रास्त गुप्तार (1815), बाम्बे समाचार (1822), बंगदूत (1832), अमृत बाजार पत्रिका (1868), ट्रिब्यून (1877) आदि समाचार पत्र भारतीय पक्ष को उजागर करने लगे थे।¹⁰ जैसे-जैसे भारतीय पत्रकारिता का विकास होने लगा और वह भारतीय हितों के समर्थन को अपनी विषय-वस्तु के रूप में प्रकाशित करने लगे वैसे-वैसे पत्रकारिता के सन्दर्भ में ब्रिटिश सरकार की दमन नीति भी उग्र होती गयी।¹¹ नियमों को और कठोर बना दिया। सन् 1878 में लार्ड लिटन ने वार्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित कर भारतीय समाचार-पत्रों का गला घोट दिया।¹²

लार्ड कर्जन ने भी "आफिशियल सिक्रेट एक्ट" पारित किया। इसके अनुसार समाचार-पत्र में ऑफिस की जानकारी को प्रकाशित करना वर्जित था। सन् 1908 में अपराधों को भड़काने वाला अधिनियम समाचार-पत्रों के लिए पारित किया गया।¹³ इस प्रकार की दमनकारी विषमपूर्ण परिस्थितियों में भारत में प्रेस की स्वतंत्रता को बनाये रखना अत्यंत जटिल कार्य था। पं. मदन मोहन मालवीय वास्तविक निहितार्थ में राष्ट्रभक्त थे और वे संपूर्ण भारत में राष्ट्रभक्ति का संचार करने अर्थात् राष्ट्र जागरण के लिए कटिबद्ध थे। इसलिये वे राष्ट्रसेवा के अपने संकल्प की पूर्ति के लिए वे पत्रकारिता को सर्वोच्च साधन मानते थे।

पं. मदन मोहन मालवीय जी ने अपने शैक्षणिक जीवन के पश्चात् अध्ययन-अध्यापन को जीविकोपार्जन का साधन बनाया। मालवीय जी ने लेखन के क्षेत्र में अपना सार्वजनिक जीवन बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित "हिन्द प्रदीप" में प्रकाशित लेखों द्वारा आरम्भ किया। अध्यापन वृत्ति के पूर्व एवं पश्चात् वे हिन्दी के पत्रों के लिए लेख लिखा करते थे। जिसके माध्यम से वे देश की अनपढ़ अथवा कम पढ़ी जनता को जागृत करना चाहते थे तथा राष्ट्रीय समस्याओं की जानकारी देने एवं उनमें राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील थे।¹⁴ यहाँ उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि मालवीय जी ने अपनी किशोरावस्था में ही स्वयं को लेखन कार्य से जोड़ लिया था। चौदह वर्ष की आयु में मालवीय जी द्वारा रचित कविताओं को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया था। मालवीय "मकरन्द" उपनाम से कविताएँ लिखा करते थे।¹⁵ मालवीय जी जब म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में अध्ययनरत थे तभी से उनके लेखन का गुणात्मक विकास प्रारंभ हुआ। उनके गुरु पं. आदित्यराम भट्टाचार्य ने मदन मोहन मालवीय के संस्कृत, साहित्य व कला प्रेम को प्रोत्साहन दिया। अपने गुरु के आदेश पर ही उन्होंने "लिटरेरी इंस्टीट्यूट" नामक संस्था की

थी। जहाँ साहित्यिक एवं सामाजिक चर्चाएँ हुआ करती थी।¹¹ मालवीय जी जब विद्यालय में कार्य करते थे, तभी उन्होंने सार्वजनिक हित के मामलों पर हिन्दी प्रदीप में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उनका प्रथम 'पिष्टपेषण' शीर्ष लेख 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से मार्च 1880 ई. के अंक में प्रकाशित हुआ।¹²

सन् 1885 में मदनमोहन मालवीय के गुरु पं. आदित्यरामभट्टाचार्य ने 'इंडियन यूनियन' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक प्रकाशित करना प्रारंभ किया। उन्हीं की प्रेरणा से 'इंडियन यूनियन' में कई लेख भी मालवीय जी के प्रकाशित हुए।¹³ यद्यपि यह मालवीयजी के पत्रकारिता संबंधी रुचि का शैशवावस्था का काल था। उनका पत्रकारिता में सक्रिय रूप से योगदान 'हिन्दुस्थान' समाचार-पत्र में बतौर संपादक के नाते प्रारंभ हुआ। मालवीय जी व उनके गुरु आदित्यराम भट्टाचार्य के संयुक्त प्रयासों से सन् 1880 में 'हिन्दू समाज' नामक संस्था का गठन हुआ जो कि प्रकारान्तर में केन्द्रीय हिन्दूसमाज के रूप में परिवर्तित हुयी। इस संस्था के उद्घाटन के पश्चात् ही मालवीय जी ने सक्रिय पत्रकारिता के क्षेत्र में पर्दापण किया। यही वह उत्सव था, जिससे मदन मोहन मालवीय और पत्रकारिता को एक दूसरे के पर्याय बने।¹⁴

मालवीय जी के सम्पादक बनते ही 'हिन्दुस्थान' ने बहुत लोकप्रियता अर्जित की।¹⁵ तत्कालीन सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर उनके निर्भयतापूर्ण सम्पादकीय लेख और टिप्पणियाँ लोग बड़े चाव से पढ़ते थे।¹⁶ हिन्दुस्थान का रविवारीय संस्करण स्वयं राजा साहब के सम्पादकत्व में ही प्रकाशित होता रहा। पण्डित मदन मोहन मालवीय सोमवार से शनिवार तक कालाकांकर में रहते थे और रविवार को प्रयाग में क्योंकि कालाकांकर प्रयाग से तीस मील दूरी पर था।¹⁷ इस समाचार पत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह जनता और सरकार दोनों का का प्रिय था। मालवीय जी ने उस पत्र का संपादन योग्यता एवं विशिष्टता के साथ किया। इस तथ्य को उत्तर-पूर्वी प्रान्तीय सरकार ने भी स्वीकार किया। 1888-1889 ई. वर्ष प्रतिवेदन में उत्तर-पूर्वीय प्रान्तीय सरकार ने उल्लेख किया है कि हिन्दुस्तान जिसकी प्रतिदिन 240 प्रतियाँ वितरित की जाती है कदाचित भाषा-समाचार पत्रों में सर्वाधिक योग्यता से संपादित एवं उच्च आकांक्षाओं की ओर उन्मुख है। यह सर्वोत्तम सम्पादित पत्र के रूप में स्वीकृत किया गया।

पं. मदनमोहन मालवीय के संपादकीय की यह विशेषता थी कि वे अपने लेखों में जनता के हितों के विरुद्ध सरकारी नीतियों की आलोचना करने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया उनकी आलोचना का यह अनुकरणीय गुण था कि उन्होंने कभी किसी व्यक्ति, वर्ग या संख्या के विरुद्ध किसी प्रकार के अपशब्द व्यंग्य अथवा अशिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं किया।¹⁸ उन्होंने हमेशा सम्पादकीय शालीनता, औचित्य और महत्ता का उच्च अनुकरणीय स्तर बनाये रखा। वे जस प्रकार आलोचनाएं, टिप्पणियाँ एवं सुझाव देते थे, वे सदा व्यवहारिक और प्रयोजनीय होती थी। उन्होंने सदा इस बात का ध्यान रखा कि उनका पक्ष किसी राजनीतिक दल अथवा समुदाय का पक्षधर न बन जाये। हिन्दी में सर्वप्रथम "ताड़ित समाचार" इसी पक्ष से निकलते थे।¹⁹ इसके अतिरिक्त मालवीय जी का विशेष आग्रह भाषा मत शुद्धता पर था। वे बड़े सावधान प्रूफ संशोधक थे। कभी-कभी वे प्रूफ में इतना संशोधन कर देते थे कि पूरी

खबर या आलेख को फिर से कंपोज करने पर मजबूर होना पड़ता था। वे लेखों का छपते-छपते तक संशोधन करते थे। वे मशीन पर चढ़े पत्र को भी शुद्ध किया करते थे। उनका नाम सुनकर अभ्यस्त प्रेस वाले भी कांप उठते थे।²⁰ उनका मानना था कि समाचार-पत्र ही आम जन में भाषा के प्रचारक व शिक्षक है। इसलिए कोशिश होनी चाहिए कि भाषा की त्रुटियाँ न जाने पायें। क्योंकि अच्छे प्रुफ की अशुद्धियां बड़े अपयश की बात है।²¹ इसलिए प्रधान संपादक होते हुए भी वे प्रूफ को जब तक स्वयं देखकर सुधार नहीं लेते थे, तब तक उन्हें संतुष्टि नहीं मिलती थी।²² प्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी मालवीय जी की संशोधन प्रियता की सादर सराहना की है।²³ मालवीय जी का हिन्दी एवं अंग्रेजी पर समान अधिकार था, इसलिए उनके सम्पादकीय लेख और टिप्पणियां साहित्यकार सौन्दर्य के कारण भी लोकप्रिय थे।²⁴ उन्होंने अपने पत्र में सदा सर्व गाह्य भाषा शैली को अपनाया। जन्म के स्थान पर जन्म, आश्चर्य की जगह अचरज आदि भाषा में देशीकरण तथा सामान्य पाठकों के प्रति सहानुभूति के द्योतक हैं।²⁵ हिन्दी में उन्होंने ऐसी लोक भाषा एवं सहज सरल शैली का प्रयोग किया कि हिन्दी कि हिन्दी के साहित्यकार, इतिहासकार और विद्वान उसे "मालवीयजी की हिन्दी" के नाम से स्मरण करते रहे हैं। उनकी शैली की यह विशेषता रही कि वह सरल सुबोध थी और उसमें बहुत अधिक संस्कृत की पण्डिताऊ शब्दावली का पूर्ण अभाव रहता था।²⁶ हिन्दुस्तान के उस दैनिक रूप को देखकर एक विशिष्ट समकालीन कवि ने लिखा था²⁷

**हिन्दी भाषा में यद्यपि, प्रचलित पत्र अनेक
ये है 'हिन्दुस्तान' ही, ता मैं दैनिक एक।।**

मालवीयजी ने भारत की तत्कालीन दुर्दशा के लिये ब्रिटिश शासन को उत्तरदायी मानते हुये अपने संपादकीय लेखों से ब्रिटिश नीतियों का प्रबल विरोध किया। भारत की ग्राम प्रधान संस्कृति होने के कारण मालवीय जी स्वयं सप्ताह में एक निश्चित दिन किसी ग्रामीण समस्या पर आलेख लिखा करते थे। गाँवों की समस्याओं को प्रमुखता से प्रकाशित करने और विकास समाचार को पत्र में स्थान देने का चलन इसी पत्र से मालवीय जी की संपादकीय नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ।²⁸ हिन्दुस्तान में 'हमारे गांव' शीर्षक से छपी उनकी स्वयं की रचना से उन्होंने भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों की दुर्दशा को चिन्हित करते हुए ब्रिटिश शासन की नीतियों व स्वार्थ में अंधे देशी रईसों को दीन व्यक्तियों को दुःखद स्थिति में पहुँचाने के लिये उत्तरदायी ठहराया।²⁹ वे हमेशा इस प्रयास में रहते थे कि देशभक्तिपूर्ण कविताएं ही "हिन्दुस्तान" में प्रकाशित हो।³⁰

यद्यपि पत्रकारिता का क्षेत्र मालवीयजी के लिए बिल्कुल नवीन था, लेकिन उन्होंने हिन्दोस्तान-पत्र के द्वारा अपने पत्रकारिता के प्रारम्भिक चरण में स्वयं के बौद्धिक कौशल से पत्रकारिता को नूतन तकनीकी साहित्यिक रूप प्रदान किया। पं. मालवीयजी का मानना था कि किसी पत्र की सफलता मुख्यतः उसके सम्पादक की योग्यता, विश्लेषण क्षमता, विषय-वस्तु को प्रतिपादित करने की कलात्मक शैली, निष्पक्षता एवं परिश्रम पर निर्भर करती है। हिन्दुस्तान की सम्पादकीय का उत्तरदायित्व लेते ही संपादकीय विभाग में पं. प्रताप

नारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबूगोपालराम गहमरी, शशिभूषण चटर्जी, गुलाबचन्द्र चौबे, पं. शीतला प्रसाद उपाध्याय, रामलाल मिश्र और स्वयं राजा रामपाल सिंह जैसे योग्य प्रतिभावान व्यक्तियों की टोली बनायी। इन व्यक्तियों को उस समय भारत-रत्न के रूप में माना जाता था आज तक किसी और हिन्दी समाचार-पत्र में यह सम्पादकों का ऐसा सुन्दर जमाव देखने में नहीं आया।³¹ निश्चित ही उस कालावधि में हिन्दुस्तान-पत्र सफलता के जिस चरमोत्कर्ष पर पहुँचा वह मालवीय जी के प्रयासों का ही सुफल था। मालवीय जी ने लगभग ढाई वर्षों तक निरन्तर हिन्दोस्तान पत्र का संपादन किया और हिन्दुस्तान को सफलता के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। मालवीय इसी पत्र को पाकर पत्रकार बने थे और इस पत्र ने मालवीयजी को पाकर पत्रकारिता जगत में अपना प्रभाव जमाया था। मालवीय जी की अभूतपूर्व मेधा-ज्ञान, कौशल से ही यह पत्र शीघ्र ही लोक प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया। यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि मालवीयजी ने अपने जिन नीतिगत आदर्शों के बल पर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश कर अल्प समय में ही अपनी योग्यता, आदर्शों से पत्रकारिता के जिस सर्वोच्च शिखर को स्पर्श किया, वह निश्चित ही उनके जीवत व्यक्तित्व का परिचायक है। वे जिन आदर्शों को लेकर हिन्दोस्तान-पत्र में सम्पादक हुये थे उन्हीं आदर्शों के चलते उन्होंने हिन्दुस्थान-पत्र की संपादकीय दायित्व स्वयं को से मुक्त कर लिया।

सन्दर्भ

1. मुकुट बिहारी लाल- महामना मदन मोहन मालवीय जीवन और नेतृत्व, बनारस, प्रथम संस्करण, 1977, पृ.सं. 17
2. वही, पूर्वोद्धृत, पृ.सं. 17
3. वही, पूर्वोद्धृत, पृ.सं. 17
4. डॉ कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता प्रथम संस्करण, सन् 1868, पृ.सं. 8
5. ए.आर. देसाई - भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृ.सं.भूमि द्वितीय संस्करण पुनर्मुद्रण, सन् 1982, पृ. सं. 178-179
6. डॉ कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, पृ.सं. 22
7. आर.सी. मजूमदार, एण्ड डी.के. घोष, ब्रिटिश पेरामाउन्सी एण्ड इण्डियन रिनाशा पार्ट द्वितीय, प्रथम संस्करण सन् 1865, पृ.सं. 247
8. ए.आर. देसाई,, पूर्वोद्धृत, पृ.सं. 184-261
9. सोरन सिंह, मदन मोहन मालवीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रथम संस्करण, दिल्ली 1989, पृ.सं. 26
10. धनंजय चोपड़ा, पत्रकारिता के युग निर्माता मदन मोहन मालवीय, प्रथम संस्करण 2010, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. 23
11. वही, पृ.सं. 23
12. हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित उनके लेखों के लिए देखें- हिन्दी प्रदीप, मार्च 1880, पृ.सं. 12-16, अक्टूबर 18, 1884, पृ.सं. 13-22, अक्टूबर से दिसम्बर 1887, पृ.सं. 27-32
13. रामननरेश त्रिपाठी, तीस दिन मालवीय के साथ, पृ.सं. 53 और देखें पत्रकारिता युग के निर्माता मदन मोहन मालवीय, धनंजय चोपड़ा, पृ.सं. 24
14. धनंजय चोपड़ा, पूर्वोद्धृत, पृ.सं. 24
15. रिपोर्ट आन द एन, डबल्यू प्रोविसन्स एण्ड अवध फॉर द इयर एण्डिंग 31, 3, 1889, इलाहाबाद, 1890, पृ.सं. 169

16. डॉ. जयराम मिश्र, महामना मालवीय भारतीय संस्कृति के प्रतीक, सम्मेलन पत्रिका श्रद्धांजलि विशेषांक 1884 भाग 48, संख्या 2,3,4 और पृ.सं. 85
17. रिपोर्ट आन द एन, डबल्यू प्रोविसन्स एण्ड अवध फॉर द इयर एण्डिंग 31, 3, 1889, पृ.सं. 169
18. वेंकटेश नारायण तिवारी, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय की जीवनी, सन् 1962, प्रथम खण्ड पृ.सं. 25
19. सीताराम चतुर्वेदी – महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय का जीवन चरित, पूर्वोक्त, पृ.सं. 25
20. वही, पृ.सं. 24
21. वही, पृ.सं. 25
22. चोपड़ा, धनंजय, पत्रकारिता के युग निर्माता मदन मोहन मालवीय, पूर्व उद्धरित, पृ.सं. 27
23. डॉ. कृष्ण दत्त द्विवेदी, भारतीय पुनर्जागरण और मदन मोहन मालवीय से उद्धरित, प्रथम संस्करण, 1891, पृ.सं. 46
24. सोरन सिंह, पूर्व उद्धरित, पृ.सं. 29
25. उमेश दत्त तिवारी, भारतभूषण, महामना पं.मदन मोहन मालवीय, पूर्व उद्धरित, पृ.सं. 56
26. सोरन सिंह, पूर्व उद्धरित, पृ.सं. 29–30
27. वेंकटेश नारायण तिवारी, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय की जीवनी प्रथम खण्ड, सन् 1968, पृ.सं. 24
28. धनंजय चोपड़ा, पत्रकारिता के युग निर्माता : मदन मोहन मालवीय, पूर्व उद्धरित, पृ.सं. 26
29. अवलोकनार्थ, उमेश दत्त तिवारी, भारत-भूषण महामना, पं.मदन मोहन मालवीय, पृ.सं. 56, पूर्व उद्धरित
30. वेंकटेश नारायण तिवारी, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय की जीवनी, प्रथम खण्ड, सन् 1962, पृ.सं. 25–26
31. वही, पृ.सं. 24